मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| सं० | २००७ से | २०१९ | तक | ४५,२५० |
| सं० | २०२२ | छठा | संस्करण | १५,००० |
| सं० | २०२७ | सातवाँ | संस्करण | १०,००० |
| | | | कुल | ७०,२५० |

सत्तर हजार दो सौ पचास

मूल्य नब्बे पैसे

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर

श्रीहरिः

# नम्र निवेदन

श्रीभाईजी ( हनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के दैनिक सत्सङ्गसे जो नोट स्वान्तःसुखाय समय-समयपर लिये जाते रहे हैं, उन्हींको पिछले कई वर्षोंसे 'कल्याण'में 'सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन' शीर्षकसे छापा जाता रहा है। कई प्रेमीजनोंके आग्रहसे उन्हींको संगृहीतकर तथा जहाँतक सम्भव था, क्रमबद्धकर कुछ नाम-परिवर्तनके साथ पुस्तकाकारमें प्रस्तुत किया जा रहा है। उक्त संग्रहका यह पहला भाग है। इसमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, सदाचार, संत-महिमा, भगवत्प्रेम आदि विविध विषयोंका समावेश है, जिससे साधकोंके लिये यह विशेष कामकी चीज बन गयी है। यदि जनताने इसका समुचित आदर किया और इसकी माँग बनी रही तो क्रमशः इसके अगले भाग भी प्रकाशित करनेका विचार है।

सत्सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। गुसाईंजीके शब्दोंमें वही फल और वही सिद्धि है, अन्य साधन तो सब फूलके समान हैं—

**सतसंगति मुद मंगल मूला।**
**सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥**

एक विशुद्ध हृदयके विशुद्ध उद्गारोंसे जनताका परम मङ्गल होगा, इसी भावसे प्रेरित होकर यह संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है। यदि इससे कुछ भी लोक-कल्याण हुआ तो संग्रहकर्ता अपने प्रयासको सफल समझेगा।

'एक सत्सङ्गी

नटवर

ॐ श्रीहरिः

# सत्सङ्गके बिखरे मोती

## ( प्रथम माला )

१—जिस प्रकार अग्निमें दाहिकाशक्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार भगवन्नाममें पापको—विषय-प्रपञ्चमय जगत्‌के मोहको जला डालनेकी शक्ति स्वाभाविक है। इसमें भावकी आवश्यकता नहीं है।

२—किसी प्रकार भी नाम जीभपर आना चाहिये, फिर नामका जो स्वाभाविक फल है, वह बिना श्रद्धाके भी मिल ही जायगा।

३—तर्कशील बुद्धि भ्रान्त धारणा करवा देती है कि बिना भावके क्या लाभ होगा। पर समझ लो, ऐसा सोचना अपने हाथों अपने गलेपर छुरी चलाना है।

४—भाव हो या नहीं, हमें आवश्यकता है नाम लेनेकी। नामकी आवश्यकता है, भावकी नहीं।

५—भाव हो तो बहुत ठीक, परंतु हमें भावकी ओर दृष्टि नहीं डालनी है। भाव न हो, तब भी नाम-जप तो करना ही है।

६—देखो—नाम भगवत्स्वरूप ही है। नाम अपनी शक्तिसे, नाम अपने वस्तुगुणसे सारा काम कर देगा। विशेषकर कलियुगमें तो भगवन्नामके सिवा और कोई साधन ही नहीं है।

७—मनोनिग्रह बड़ा कठिन है—चित्तकी शान्तिके लिये प्रयास करना बड़ा ही कठिन है। पर भगवन्नाम तो इसके लिये भी सहज साधन है। बस, भगवन्नामकी जोरसे ध्वनि करो।

८—माता देवहूति कहती हैं—

**अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्**
**यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।**
**तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या**
**ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥**

(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

बस, जिसने भगवन्नाम ले लिया, उस श्वपचने भी सब कर लिया। भावकी इसमें अपेक्षा नहीं है। वस्तुगुण काम करता है।

९—तर्क भ्रान्ति लाती है कि रोटी-रोटी करनेसे पेट थोड़े ही भरता है? पर विश्वास करो, भगवन्नाम रोटीकी तरह जड शब्द नहीं है। यह शब्द ही ब्रह्म है। नाम और नामीमें कोई अन्तर ही नहीं है।

१०—आलस्य और तर्क—ये दो नाम-जपमें बाधक हैं।

११—प्रायः आलस्यके कारण ही कह बैठते हो कि नाम-जप होता नहीं।

१२—अभ्यास बना लो, नाम लेनेकी आदत डाल लो।

१३—'नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं' इसपर श्रद्धा करो। इस विश्वासको दृढ़ करो।

१४—कंजूसकी भाँति नामको सँभालो।

१५—निश्चय समझो—नामके बलसे बिना ही परिश्रम भवसागरसे तर जाओगे और भगवान्के प्रेमको भी प्राप्त कर लोगे।

१६—भगवान् नित्य हमारे पास हैं; अत्यन्त समीप हैं। एकान्त

कोठरीमें जहाँ कोई भी घुस नहीं सकता, वहाँ भी साथ हैं। ऐसे भगवान् आश्रय लेते ही आश्रय दे देते हैं।

१७—भगवान्के बलसे सभी कुछ सम्भव है, सभी विपत्तियाँ छूट सकती हैं। सारी लङ्का जल गयी, पर हनुमान्जीकी पूँछ नहीं जली; क्योंकि सीतामैयाने पूँछ नहीं जलनेका संकल्प जो कर लिया था। हनुमान्जीको गरमीतकका भी अनुभव नहीं हुआ।

१८—आधुनिक जगत्के, बहुत-से लोग कहेंगे, यह बनावटी बात है। पर निश्चय मानो, भगवान्का आश्रय होनेपर पूँछमें आग लगकर भी पूँछ न जले, यह सर्वथा सम्भव है। अवश्य ही सच्चा भक्त अपनी ओरसे इस प्रकारके चमत्कारकी इच्छा नहीं रखता। हमलोग तो मामूली अनिष्टके भी टल जानेकी चाह कर बैठते हैं।

१९—निरन्तर भगवान्का नाम लो, कीर्तन करो। मेरे विचारसे सर्वोत्तम साधन यही है।

२०—'हारेको हरिनाम'—इसी उपायसे सबका मङ्गल दीखता है। और किसी भी उपायमें राग-द्वेष उत्पन्न होकर फँस जानेका भय है।

२१—भगवान्पर विश्वास हो, उनकी कृपाका भरोसा हो और नाम-जप होता रहे तो अपने-आप ही निर्भयता आयेगी, साहस आयेगा। विपत्तिका टलना भी इसी उपायसे होगा।

२२—मनुष्य जब सब उपायोंसे हार जाता है, तब उसे हरि-नाम सूझता है, तभी वह हरिनामको पकड़ता है और तभी उसे विजय मिलती है।

२३—भगवान्का आश्रय ग्रहण करो, भगवान्की कृपापर विश्वास करो, जिससे मनमें अशान्ति नहीं रहे।

२४–हमें क्या चाहिये, इस बातको हम भूले हुए हैं।

२५–हम अज्ञानवश ऐसी चीजकी प्राप्तिकी इच्छा कर बैठते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता नहीं है और जिसमें हमारा अकल्याण है।

२६–किस चीजकी प्राप्तिमें हमारा भला है, इस बातको ठीक-ठीक भगवान् जानते हैं।

२७–हमें क्या चाहिये, हम ठीक-ठीक नहीं जानते; चाहनेमें भूल कर बैठते हैं। बहुत बार तो ऐसी वस्तु चाह बैठते हैं, जिसकी प्राप्ति महान् दुःखदायिनी होती है। इसलिये हमें क्या चाहिये, यह विचार भगवान्पर छोड़ देना चाहिये। इस बातको सोचें भगवान्, उस वस्तुका संग्रह करें भगवान् और रक्षा करें भगवान्। फिर मङ्गलमय भगवान् हमारे लिये जो उचित समझेंगे, देंगे और इस उपायसे हमको अविनाशी पद बिना ही परिश्रमके प्राप्त हो जायगा।

२८–भगवान्ने कहा है–'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तका रक्षण) दोनों स्वयं मेरे जिम्मे रहे—यह भगवान्की प्रतिज्ञा है। इससे बड़ा आश्वासन और क्या हो सकता है।

२९–भगवान्के ऊपर योगक्षेमका भार छोड़ देनेमें ही परम [illegible]भ है।

३०–भगवत्प्राप्तिका बड़ा सीधा रास्ता है—'हमारे एकमात्र [illegible]ार भगवान् हैं; हममें बुद्धि, शक्ति कुछ भी नहीं है, हम उन्हींपर [illegible]र हैं—वे जो चाहें, करें।' ऐसा हृदयसे भाव कर लेना।

३१–समस्त शक्तियोंका स्रोत भगवान्से ही आरम्भ होता है।

३२–हमारी कितनी भारी भूल है, कितना बड़ा प्रमाद है कि

हम भगवान्‌के विचारके सामने अपना विचार रखते हैं, मानो भगवान् विचार करना भी नहीं जानते।

३३—जो भगवान्‌की दयाके सीधे प्रवाहको रोकना चाहता है, वह भारी भूल करता है।

३४—भगवान् जब, जो, जैसे करें, वैसे ही होने दो, उसीमें तुम्हारा परम कल्याण है।

३५—रोगी कभी यह नहीं कहता कि हमें यह दवा दीजिये। वैद्यसे वह यह भी नहीं पूछता कि दवा किस चीजसे बनी है, बिना सोचे-विचारे ले लेता है। वह निर्भर करता है वैद्यके निदानपर और विश्वास करता है उसकी योग्यता तथा सुहृदतापर। परंतु हम ऐसे अभागे हैं कि परमार्थ-पथमें हम अपना निदान आप करने बैठते हैं। ऐसा न करके केवल भगवान्‌पर विश्वास करनेकी ही आवश्यकता है।

३६—जो भगवान्‌को नहीं मानता और मनमानी करता है, उसका कल्याण नहीं होता।

३७—आरम्भसे ही भगवान्‌की दयापर, प्रेमपर, अनुग्रहपर अपना सारा-का-सारा जीवन छोड़नेवालेका, यहाँका और वहाँका—सारा भार भगवान् सँभाल लेते हैं।

३८-हमारा सर्वस्व भगवान्‌का है—जिस क्षण यह भाव हुआ कि फिर बिना प्रयत्न ही अन्तर उज्ज्वल हो गया—परम पवित्र हो गया।

३९—बड़ी सीधी बात है,—फिर सब कुछ अपने-आप हो जायगा। केवल विश्वास करो भगवान्‌की कृपापर। भगवान्‌की कृपा है,

अपनी कृपासे ही वे मुझे अवश्य स्वीकार कर लेंगे। यह भाव निरन्तर बढ़ाते चले जाओ।

४०—बस, दो बात हैं—भगवान्‌की कृपापर विश्वास और भगवान्‌के नामका आश्रय। फिर कोई चिन्ता नहीं। ध्यान नहीं लगता—न सही, मन वशमें नहीं होता न सही।

४१—भगवान् पापी, नीचके भी उद्धारक हैं, यह विश्वास करके केवल जीभसे भगवान्‌के नामका उच्चारण करते रहो।

४२—भगवान् तो अपनी कृपासे ही स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने कहा है—

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**
**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
**कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**
(गीता ९। ३०-३१)

'महान् पापी भी यदि मुझको ही अपना एकमात्र आश्रयदाता मानकर पक्का निश्चय करके मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये। वह तुरंत ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है। बस, ऐसा निश्चय करके मेरा भक्त बन जाय, फिर उसका पतन होता ही नहीं।'

इतनी सीधी-सी बात सभी कर सकते हैं। अपने पुरुषार्थसे पाप नहीं छूटते, न सही; बस, भगवान्‌के पतितपावन विरदपर विश्वास करो, श्रद्धा करो—यह होगा, अवश्य होगा!

**४३—सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।**
**है तुलसी परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है॥**

-बस; विश्वास कर लो कि 'प्रभु-मूरति कृपामई है।' और जीभसे नामका उच्चारण करते रहो।

४४-यदि हम जीभसे भगवन्नाम लेंगे तो सभी अङ्ग पुष्ट हो जायँगे।

४५-विश्वास करो—माँके समान भगवान्‌की कृपा सर्वत्र हमारी रक्षा करेगी।

४६-श्रीकृष्णकी अनन्त कृपा हमारे ऊपर है, ऐसा विश्वास करके नाम लेते रहो।

४७-हो सके तो यह करो—भगवान्‌की कृपापर अपने-आपको छोड़ दो। हमारा क्या होगा, कब होगा, कैसे होगा—इस बातकी चिन्ता ही छोड़ दो।

४८-जैसे माता अपने बच्चेके कल्याणके लिये, रोग मिटानेके लिये कड़वी दवा देती है, वैसे हो भगवान् जागतिक कष्ट, दारिद्य, अपमान और व्याधियाँ आदि भेजते हैं। वे देखनेमें कठोर हैं, पर वस्तुतः हैं भगवान्‌के आशीर्वाद। वे शुद्ध करनेके लिये—निर्मल बनानेके लिये ही आते हैं।

४९-मुझपर भगवान्‌की कृपा कम है, ऐसा माननेवाला भूल करता है। भगवान्‌की कृपा तो सबपर है और अनन्त है।

५०-हम चाहे कैसे भी क्यों न हों, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌का सौहार्द हमें छोड़ ही नहीं सकता। वह सबको अपनाता है—यह अनिवार्य है।

५१-बिल्कुल यही बात है। कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा हमपर है और हमारे ही ऊपर है तथा वह अनन्त है।

५२–नित्य परिवर्तनशीलता संसारका स्वरूप है। यह प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। सारे जगत्में, व्यक्तिमें, समाजमें दिन-रात बनना-बिगड़ना चल रहा है। इसीका असर हमारे मनपर होता है। एक-सी स्थिति कभी रहती नहीं और मन अनुकूल-प्रतिकूल संकल्पोंको लेकर सुखी-दुखी होता रहता है। जगत्के इसी स्वरूपमें पड़े-पड़े हम मर जाते हैं, जीवन व्यर्थ हो जाता है।

५३–मनमानी चीज सदा मिलती नहीं। कभी मिल जाती है, कभी नहीं मिलती। मिलनेपर भी सदा टिकती नहीं।

५४–पुत्र-धनकी प्राप्ति हुई। मनमें मान लेते हैं कि हमारे मनकी हुई। थोड़ी-सी सफलता हुई, थोड़ा-सा आनन्द आया, फिर वही प्रतिकूलता और वही दुःख। साथ-साथ विषयासक्तिके कारण पाप भी होते ही रहेंगे। इस प्रकार जीवनभर विषाद, शोक, पापकी कमाई ही हाथ लगती रहेगी।

५५–मनुष्य आया था उन्नति करनेके लिये; मनुष्य-जीवन प्राप्त हुआ था भगवत्प्राप्तिके लिये; पर वह अपने इस वास्तविक लक्ष्यको भूल गया, विषयोंमें पड़कर कमाने लग गया पाप। गम्भीरतासे विचारो तो पता लगेगा कि जीवनका उद्देश्य यह कदापि नहीं है।

५६–महात्माओंने यह बात सबके लिये तै कर रक्खी है कि जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, पर मनुष्य इसको भूल गया। उसी भूलका परिणाम है—वर्तमानका महान् संहार।

५७–विषयासक्ति जब अत्यन्त बढ़ जाती है, तब दूसरेके भले-बुरेकी परवा नहीं रहती। दूसरेकी दशा कैसी भी क्यों न हो, पर हमें अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त होनी ही चाहिये।

५८—'विषयान् विषवत् त्यज' विषयको विष मानकर सर्वथा छोड़ दो।

५९—जिस प्रकार सोनेके घड़ेमें जहर भरा हो—'विषरस भरा कनकघट जैसे।' वैसे ही विषय ऊपरसे रमणीय प्रतीत होते हैं, भीतर इनमें दुःख-ही-दुःख है।

६०—व्यष्टिके समूहका नाम समष्टि है। यदि सभी मनुष्य अपने आपको अलग-अलग सुधार लें तो सभी सुधर जायँ।

६१—अपना सुधार चाहनेवालेको, उन्नतिशीलको यह नहीं देखना चाहिये कि दूसरा ठीक हो, दूसरे सुधरें, तब मैं भी सुधरूँ। उसे तो अपना सुधार आरम्भ कर ही देना चाहिये। अपना सुधार अपने ही द्वारा होगा।

'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

६२—यह समय ही कलियुगका है, मन अच्छी बात तो जल्दी हण नहीं करना चाहता। बुरीको बहुत जल्दी ग्रहण कर लेता है।

६३—इस कलियुगमें वस्तुतः अच्छी बात मिलती भी बहुत कम । कहीं मिल भी जाती है तो ग्रहण नहीं होती। ग्रहण नहीं होनेमें कारण है अन्तरका मल।

६४—अन्तरके मलको नाश करनेके लिये भगवन्नामसे बढ़कर दूसरा सुलभ साधन है ही नहीं। स्त्री, बच्चे, बूढ़े सभी भगवान्‌का नाम बड़े प्रेमसे ले सकते हैं।

६५—भगवान्‌के नाममें श्रद्धा नहीं हो, प्रेम नहीं हो तो दूसरेके कहनेसे ही लेना आरम्भ कर दें। अच्छा क्या हानि है, नाम लिया करेंगे; इसी भावसे लें। आदत डाल लें, फिर काम होगा ही; क्योंकि

भगवन्नाममें वस्तुशक्ति ही ऐसी है, पाप नाश करनेकी स्वाभाविक ऐसी है कि जीभपर नाम आते ही वह मलका नाश करेगा ही।

६६—भगवन्नाम पापोंका नाश करके ही शान्त नहीं हो जा पापका नाश करनेके बाद हृदयमें ज्ञानकी ज्योति पैदा करता ज्ञानके बाद भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है। यह हुआ फिर स्वयं नामी खिंच आते हैं।

६७—भगवान्‌के नाम, स्वरूप, लीला, धाममें अन्तर नहीं ये सब भगवत्स्वरूप ही हैं।

६८—नाम भगवान्‌को हमारी ओर खींचता है और हमें भगवान् ओर ले जाता है—दोनों ही काम करता है।

६९—सबसे बड़ी मूर्खता, सबसे बड़ा मोह यह है कि हम विषयं से सुखकी आशा करते हैं। इस मूर्खता, इस मोहको मिटानेके लि भी भगवान्‌का नाम ही लेना चाहिये।

७०—'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि, सठ हठि पियत बिष बिष माँगी।' यही दशा हो रही है।

७१—भगवान्‌ने कहा है—

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥**

(गीता ५। २२)

'जितने भी इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले भोग हैं—सब-के-सब दुःखकी उत्पत्ति करनेवाले और अनित्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें कभी प्रीति नहीं करता।' यह त्रिकाल सत्य है। विश्वास करो—विषय सदा रहते नहीं, उनमें दुःख-ही-दुःख भरा है।

७२—भगवान्‌ने संसारको 'दुःखालय' बतलाया है। विश्वास करो कि भगवान्‌से विरहित संसार सर्वथा सब ओरसे दुःखमय है। इसमें

पड़े रहकर सुख चाहना तो वैसा ही है कि पड़े रहें आगमें और चाहें शीतलता ।

७३–जगत्में लड़ाइयाँ क्यों होती हैं ? इसीलिये कि विषयोंसे सुखकी आशा है । मनमें यह मोह है कि लड़कर मनमाना विषय प्राप्त करेंगे और सुखी हो जायँगे ।

७४–जब विषयोंमें सुखकी आशाका मोह भंग होता है, तभी वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर सच्चा सुख मिलता है ।

७५–विषयोंसे विरक्ति हुए बिना सुख मिलता ही नहीं ।

७६–विषयानुराग और वैराग्य एक साथ कैसे रह सकते हैं ?

७७–जहाँ विषयानुराग है, वहाँ भगवान् भी नहीं हैं—

**'जहाँ काम तहाँ राम नहिं ।'**

७८–जहाँ भोगोंके प्रति प्रेम है, वहाँ भगवत्प्रेम नहीं है ।

७९–जब भगवत्प्रेम जाग्रत् होता है, तब मालूम पड़ता है—ओह ! मेरी कितनी मूर्खता थी, भ्रमसे मैं वहाँ उन विषयोंमें सुख ढूँढ़ता था, जहाँ सुखका लेश भी नहीं है ।

८०–प्रेम उत्पन्न होते ही भगवच्चरणोंसे मनुष्य दृढ़तासे, कभी अलग नहीं होनेके लिये चिपट जाता है ।

८१–भगवत्प्रेमका आनन्द इतना महान् है कि उसकी कोई तुलना नहीं । स्वर्गीय अमृतसे इसकी क्या तुलना होगी ?

८२–प्रेमानन्दके सामने सभी आनन्द तुच्छ हो जाते हैं, पर प्रेमानन्दके उदय होनेपर ही ऐसी दशा होती है ।

८३–जबतक हम विषयोंके मोहमें पड़कर अन्धे हो रहे हैं, तबतक भगवत्प्रेमका उदय होना सम्भव नहीं है ।

८४–सत्यको ग्रहण करना चाहिये, जगत् कुछ भी क्यों न कहे ।

८५–जो सत्य है, वह सत्य ही रहेगा। जगत्के न माननेसे सत्य मिटता नहीं।

८६–यदि हम बहुमतसे पास कर दें कि सूर्य कोई वस्तु नहीं तो क्या सूर्य हमारे ऐसा पास कर देनेसे नहीं रहेंगे? रहेंगे ही। इसी प्रकार सत्य वस्तु भगवान् तो किसीके न माननेपर भी रहेंगे ही।

८७–भगवान्की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य है।

८८–जो भगवान्में मन लगाता है, वही बुद्धिमान् है।

**८९–ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।**
**गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥**

पारसको छोड़कर घुँघची लेनेवाला जीवित रह जाता है, पर वह तो इससे भी अधिक मूर्ख है कि जो अमृत छोड़कर जहर लेता है। विषयोंमें मन लगाना तो अमृत छोड़कर जहर ही लेना है।

९०–विषयरूप जहर लेकर अमर होना चाहे, यह कितनी मूर्खता है!

९१–मनुष्य विषयोंको समीप बुलाता है और चाहता है कि अमर रहूँ, यह कैसे सम्भव है?

९२–जिसने विषयोंके मोहको छोड़ दिया, उसने बड़ा भारी काम कर लिया।

९३–जो असली धनको नहीं खोये, वही चतुर है। असली धन है भगवद्भजन, भगवत्स्मरण।

९४–विषयोंकी चाहमें जीवन विषाद-शोकमें बीतता है। विषयोंको पानेके लिये जीवनभर पापकी कमाई होती है, जिसका

परिणाम भी विषाद और दुःख ही होता है। इस प्रकार विषयोंमें आदिसे अन्ततक दुःख-ही-दुःख है।

९५—मोहमें पड़ी हुई बुद्धि विचार नहीं कर पाती। पर सोचो यहाँकी कौन-सी वस्तु साथ जायगी? इसके पहले भी, इस जीवनके पहले भी तो हम कहीं थे। वहाँसे हम क्या साथ लाये? क्या कभी पूर्वजीवनकी बात याद भी आती है? स्मरण करनेकी इच्छा भी होती है? ठीक यही दशा इस जीवनके बाद भी होगी।

९६—जिस वस्तुसे हमारा एक दिन बिल्कुल कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस वस्तुके लिये भगवान्‌को भूलना कितनी बड़ी मूर्खता है!

९७—पैदा हुए, मर गये। न भगवान्‌का स्मरण है, न अपने स्वरूपकी स्मृति। यह तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग है।

९८—असली बात है—भगवान्‌के लिये ही जीवन बिताना। जीवनका उद्देश्य हो जाय।

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥**

(गीता ९। २७)

'जो करो, जो खाओ, जो कुछ होम, दान और तप करो, सब मेरे (भगवान्‌के) अर्पण करो।' इसके अनुसार साधना करना भगवान्‌के लिये जीवन बिताना है। सब करो, पर अपने लिये नहीं भगवान्‌के लिये।

९९—भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! युद्ध करो, पर विजयके लिये नहीं! आशारहित होकर, ममतारहित होकर (निराशीर्निर्ममो भूत्वा) युद्ध करो, केवल निमित्तमात्र बनो, मैं कराऊँ वैसे करते जाओ।' ऐसी ही साधना करनी है।

१००—जो होता है, स

इसलिये अहंकारका त्याग कर दो। कर्मका फल भी छोड़ दो भगवान् पर ही। भगवान्के हाथके यन्त्र बनकर उनके इच्छानुसार करते चले जाओ।

१०१–जिसके जिम्मे जो काम है, वह वही करे, पर करे भगवान्की सेवाके लिये। यहाँतक कि मनके प्रत्येक संकल्प-विकल्पको भी भगवत्सेवासे जोड़ दे।

१०२–जिसके मन, बुद्धि, शरीर एवं इन्द्रियोंपर भगवान्का पूर्ण अधिकार हो गया, वही मुक्त है।

१०३–श्रीगोपीजनोंके मन, बुद्धि, शरीरपर एकमात्र श्रीभगवान्का ही अधिकार था। भगवान्ने उनके लिये स्वयं यह स्वीकार किया है—'ता मन्मनस्का मत्प्राणाः।'

१०४–सब काम करो, पर करो भगवान्को याद रखते हुए उन्हींके प्रीत्यर्थ! हम नौकरी करते हैं–व्यापार करते हैं, पर उस नौकरी या व्यापारको भगवान्को याद करते हुए भगवान्की प्रसन्नताके लिये करें तो वह व्यापार ही भगवत्पूजा बन जायगा।

१०५–सारे पदार्थोंपरसे अपनी मालिकी उठा दो। मालिक भगवान्को बना दो और स्वयं मैनेजर बन जाओ।

१०६–भगवान्के चिन्तनमें ही सुखकी, तृप्तिकी खोज करो। फिर जीवन दिव्य बन जायगा। क्रियाएँ सब-की-सब भगवान्के लिये होने लग जायँगी। ऐसा असम्भव नहीं है।

१०७–कुछ भी न हो सके तो जिस किसी भावसे हो, भगवान्का नाम लेते रहो।

१०८–नामका सच्चा आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाओ।

## ( द्वितीय माला )

१–संत सबकी भलाई करें, केवल इतनी ही बात नहीं है। संतोंमें ऐसी शक्ति होती है कि उस शक्तिके संस्पर्शमें जो भी आ गया, उसका परम कल्याण हो जाता है; चाहे उसे यह मालूम हो या न हो।

२–संतका मिलना ही बड़ा दुर्लभ है, पर यदि वे मिल गये तो काम बन गया। उनके वस्तु-गुणसे ही काम बन जाता है। श्रद्धा होनेपर काम हो, इसमें कौन बड़ी बात है।

३–अमृतका संस्पर्श हुआ कि अमर हुए, उसी प्रकार किसी तरहसे भी संत-संस्पर्श हो गया तो कल्याण हो ही गया। संतको न पहचानकर भी उनकी सेवा करनेसे, उनके दर्शनसे कल्याण तो होता ही है, उनकी अवज्ञातक करने जाकर उनके संस्पर्शमें आनेका फल भी अन्तमें कल्याण ही है। नलकूबर और मणिग्रीव देवर्षि नारद-जीकी अवज्ञा करके भी भगवान्‌को पा गये।

४–श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।**
**भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥**

—एक ओर पार्थिव भोग, स्वर्ग और मोक्ष तथा दूसरी ओर संतके सङ्गका एक क्षण; यह तुलना भी नहीं होती। ऐसा दुर्लभ संतोंका संग होता है।

५- संतका दर्शन होनेके लिये भगवान्‌की कृपा अपेक्षित है और संत-दर्शन होनेपर ही भगवान्‌की कृपाकी अनुभूति होती है।

६-'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'। भगवान्‌की कृपा हुए बिना संतका दर्शन नहीं होता।

७-संत और भगवान्‌में भेद नहीं है, नारदजीने यह बात कही है। 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।'

८-'भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम बपु एक।' यह है संतकी महिमा।

९-जिसके मनमें सच्चे संतसे मिलनेकी इच्छा हो, वह भगवान्‌से प्रार्थना करे और जो भगवान्‌की प्राप्ति चाहता हो, वह संतका सेवन करे।

१०-संतके द्वारा ही भगवान्‌का माहात्म्य, स्वरूप, गुण, लीला आदि सुननेको मिल सकते हैं। इन सबका रहस्य जाननेके लिये संतके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

११-भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमें संत मिलें और संत मिलनेपर उनसे प्रार्थना करे कि 'आपको जो प्रिय-से-प्रिय वस्तु है, वही हमें भी प्राप्त हो। नरसीजीने भगवान् शंकरको प्राप्त कर लेनेपर उनसे यह कहा था कि 'आपको जो सबसे प्रिय-से-प्रिय दुर्लभ वस्तु हो, उसीकी प्राप्ति हमें करा दें।' (तमने जे वल्लभ होय जे दुर्लभ, आपो रे प्रभुजी मुने दया रे आणी।) संक्षेपमें नरसीजीकी कथा इस प्रकार है-नरसीजी कीर्तनके बड़े प्रेमी थे, घरपर देरसे लौटते थे; भौजाई कटु स्वभावकी थी, एक दिन बोली-'क्यों बड़े भक्त बने हो, भक्त हो तो भगवान्‌से क्यों नहीं मिलते?' नरसीजी बस, उसी समय घर-

ने निकल पड़े और एक शिवमन्दिरमें जाकर धरना दे दिया। चौदह दिन-रातके बाद शिवजीने दर्शन दिये। नरसीजीने उनसे प्रार्थना की और शिवजी उन्हें गोलोकधाममें ले गये। नरसीजीने वहाँ श्रीराधा-कृष्णकी दिव्य लीलाओंका दर्शन किया। इस अनुभवका स्वयं नरसी-जीने अपने ग्रन्थमें वर्णन किया है।

१२—शिव एवं विष्णुमें अन्तर नहीं है, लीलाके लिये एक ही भगवान् शिव एवं विष्णु बने हुए हैं।

१३—भक्त भगवान्के प्रेमकी चर्चामें ही रमता है, मोक्ष उसे नहीं सुहाता। इस प्रकार भगवत्प्रेमको अपना सार-सर्वस्व बना लेने-वाले संतके कहीं दर्शन हो जायँ तो फिर आनन्दका क्या कहना।

१४—संत मिलते हैं भगवत्कृपासे और पूर्ण भगवत्कृपा सबपर सदा है ही; बस, विश्वासकी कमी है, इसीलिये सारा दुःख है।

१५—भगवान्ने कहा है—

**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥**

'जिसने मुझे सुहृद् जान लिया,बस, उसे इतना जाननेसे ही शान्ति मिल जाती है।' कितनी बड़ी बात है! भगवान् सबके सुहृद् हैं, मित्र हैं, पर हमलोग इस भगवद्वचनपर विश्वास नहीं करते।

१६—कृपा और प्रेममें अन्तर है। कृपामें कुछ परायापन है, वह किसी दीनपर होती है; पर प्रेममें निकटका सम्बन्ध होता है तथा सुहृद् एवं मित्रके सम्बन्धमें तो और निकटता होती है। भगवान् कहते हैं, मैं सुहृद् हूँ, सबका मित्र हूँ। भला, यह बात जिसने जान ली, उसके आनन्दका क्या ठिकाना। भगवान् हमारे मित्र हैं, फिर क्या चाहिये। इस बातको जानते ही मनमें कितना

गौरव होगा, कितनी शान्ति मिलेगी ? एक सर्वोपरि लौकिक शास
मित्रता होनेमें मनुष्य कितने गौरवका अनुभव करता है, फिर सर्वलो
महेश्वर भगवान् हमारे मित्र हैं; यह जाननेपर कितनी शान्ति होग

१७—भय इसीलिये है कि भगवान्पर विश्वास नहीं है। '
मामूली सिपाही साथ हो जानेपर हमारा भय जाता रहता है; f
जिस क्षण यह विश्वास हो जाय कि सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगव
नित्य-निरन्तर हमारे साथ हैं, उसके बाद क्या भय रह सकता है

१८—बहुत सहज बात हमारे विश्वासके अभावके कारण कठि
हो रही है। भगवान्की पूर्ण कृपा है; उस कृपापर विश्वास होते
सब काम बन जाय; बहुत सहजमें बन जाय। कृपापर विश्वा
होते ही कृपा फूलने-फलने लग जाती है, संत एवं भगवान्को मिल
देना ही कृपाका फूलना-फलना है।

१९—संत सभी समय रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता
संतका अभाव हो तो भगवान्का भी अभाव हो जाय, जो कि असम्भव
है। हाँ, संतोंकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। इस कलियुगमें भी
संत हैं। भगवान्से प्रार्थना करनेपर उनके दर्शन हो सकते हैं!

२०—डर है, वह तो असंतोंसे ही है। संतोंसे डर किस बात-
का। माकी गोदमें बच्चा चाहे जैसा व्यवहार करे। मासे क्या बच्चे-
की हानि होगी ?

२१—संतोंका शाप भी परम कल्याणके लिये ही होता है।
बस, किसी प्रकार उससे मिलना हो जाय फिर तो काम अपने-आप
हो जायगा; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है।

२२–संतकी पूरी-पूरी महिमा कोई कह नहीं सकता। संतका ध्यान भगवान् करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एक बार ध्यानमें बैठे थे, धर्मराजने पीछे पूछा—'प्रभो! आप उस समय क्या कर रहे थे?' श्रीकृष्णने कहा–'ध्यान कर रहा था।' धर्मराज–'किसका ध्यान कर रहे थे?' श्रीकृष्ण—'भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, इसलिये मैं भीष्मका ध्यान कर रहा था, उनके पास चला गया था।'

२३–जिन संतोंकी महिमा स्वयं भगवान् गाते हैं, उन संतोंकी महिमा कौन कह सकता है।

२४–'भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥' भरद्वाजजीने कहा, भरत! रामके दर्शनका फल है तुम्हारा दर्शन! 'तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।' भला, ऐसे संतोंकी महिमा कौन कह सकता है।

२५–संतोंकी चरणरजकी महिमा ऐसी है कि तीर्थ भी उस रजसे पवित्र होते हैं।

२६–संत तीर्थोंको भी तीर्थ बनाते हैं—

**'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।'** (नारदभक्तिसूत्र ६९)

२७–तीर्थ क्या चीज है? संतोंके रहनेका स्थान; जिस स्थान-पर संत रहें, वही तीर्थ बन जाता है।

२८–संतोंके मुखसे जो निकल गया, वही सार्थक शास्त्र बन गया।

२९–संतोंने जो लिख दिया, वही नियम-विधान हो जाता है, उस विधानको भगवान् मानते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि संत भगवान्के संदेशवाहक होते हैं।

४७–भगवान्‌की कृपापर विश्वास, आत्माकी अमरतापर विश्वास तथा तीसरी बात, अपने प्रारब्धपर विश्वास अर्थात् बिना प्रारब्धके मृत्यु नहीं होगी—यदि इन तीन बातोंपर विश्वास है तो सुखसे मरोगे।

४८–आत्मबल चाहिये, शारीरिक बल इसके सामने परास्त हो जायगा।

४९–जिसका मन बुरी भावनाओंको दूर रखता है, उसके सामने अपने-आप बुरी बातें बहुत कम आती हैं।

५०-संसारमें घटना भले ही कुछ भी क्यों न हो, पर उसमें सुख-दुःखका होना हमारी भावनापर निर्भर है।

५१-यदि सचमुच भगवान्‌पर विश्वास हो तो फिर बड़े-से-बड़े भयके अवसरपर भी इस प्रकार बच जाओगे कि देखकर आश्चर्य होगा।

५२–हमारे मनमें जो भी अच्छे-बुरे विचार होते हैं, वे फैलते रहते हैं। हमारे मनमें यदि मङ्गलकी भावना हो तो हम जगत्‌को मङ्गल देंगे; बुरी भावना होगी तो जगत्‌के सारे वायुमण्डलमें बुरा भाव फैलायेंगे।

५३–हम स्वयं ऐसी चेष्टा करें कि हमारे मनमें भय उत्पन्न न हो, फिर जगत्‌को हम निर्भयताका दान कर सकेंगे।

५४–आत्माके अमरत्वपर विश्वास करनेसे भय तुम्हें छूतक नहीं सकेगा।

५५–भगवान्‌के राज्यमें अन्याय नहीं होता। फलके रूपमें बुरा-भला जो कुछ भी तुम्हें प्राप्त होता है, वह तुम्हारे ही किये हुए कर्मोंका फल है। तुम जिसे बुरे फलमें कारण समझकर वैरी मान रहे हो, वह तो केवल निमित्त बन गया है, फल तो तुम्हें अपने कर्मोंसे ही मिला है।

५६–किसीके अहितमें कभी भी निमित्त मत बनो ।

५७–श्रीभगवान्‌का परम आश्रय प्राप्त कर लेनेसे बढ़कर ऊँचा ाभ कोई नहीं है ।

५८–बड़े भाग्यवान् पुरुष ही भगवान्‌का परम आश्रय पानेके ार्गपर चलते हैं और उनके पुण्यका तो पार ही नहीं है, जो इस स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं ।

५९–मार्गकी बात करना और बात है तथा मार्गपर चलना एवं चलकर भगवान्‌का आश्रय पा लेना और बात है ।

६०–एक व्यक्ति लड्डूकी बात सोचा करे, केवल बात-ही-बात करे; पर दूसरा लड्डूका सामान जुटाकर लड्डू बनाना आरम्भ कर दे तो बात करनेवाला तो यों ही रह जायगा और लड्डू बनानेवाला यदि लड्डू बन जायगा तो चख भी लेगा ही ।

६१–साधनकी बातें करना और चीज है तथा साधनमें सचमुच लग जाना और चीज है ।

६२–जो भगवान्‌के मार्गपर चलने लगता है, उसकी स्थिति बहुत ही विलक्षण हो जाती है तथा चलने लग जानेपर पहुँचना सहज हो जाता है ।

६३–भगवान्‌की ओर लगे रहना बड़ा कठिन है । बड़े-बड़े विघ्न आते हैं, जो मनुष्यको भगवान्‌से हटा देते हैं ।

६४–बहुत बार साधनाके नामपर विषयोंकी ओर गति होती है ।

६५–सबसे पहली बात है लक्ष्य स्थिर होना चाहिये । कहाँ जाना है, यह निश्चित होना चाहिये । एक नया आदमी है, कलकत्तेसे

राजपूताना आना चाहता है। उसके मनमें दृढ़ निश्चय है कि राजपूताना जाना है। अब वह जहाँ-जहाँ गाड़ी बदलेगी, बार-बार पूछकर, देख-भालकर उसी गाड़ीमें बैठेगा जो कि राजपूतानेकी ओर जाती है। सदा सावधान रहेगा कि कहीं दूसरी गाड़ीमें न बैठ जाऊँ। इसी प्रकार जो भगवान्‌की ओर चलता है, उसका यह निश्चय होता है कि मुझे भगवान्‌के पास जाना है और सदा सावधान रहता है कि रास्ता न भूल जाऊँ, अनुभवी पुरुषोंसे बार-बार पूछकर निश्चय करता रहता है कि रास्ता ठीक तो है न।

६६—सभी बुरे विचार एवं दुर्गुण भगवान्‌के मार्गपर चलना प्रारम्भ कर देनेपर अपने-आप छूट जायँगे। धन कमानेका उद्देश्य रखनेवाला धन-नाशकी कोई बात नहीं करता, एक पैसेके नाशको भी वह सह नहीं सकता। वैसे ही जो भगवान्‌को उद्देश्य बनाकर चलेगा, उसे भगवान्‌की प्राप्तिकी विरोधी बातें अच्छी ही नहीं लगेंगी। मामूली दुर्गुण भी उसे बहुत खलेंगे और वह उन्हें निकाल फेंकेगा।

६७—भगवान्‌के मार्गपर आना ही कठिन है। मार्गपर आ जानेपर तो सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

६८—भगवान्‌की ओर मुख किया कि सारे पाप कट जायँगे।

**सनमुख होहिं जीव मोहि जबहीं।**
**जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**

६९—भगवान्‌की ओर मुँह फेरते ही भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, इतना ही नहीं, वे अपनेको ऋणी मानने लगते हैं। भगवान् श्रीरामने कहा—विभीषणके पास मुझे ही चलकर जाना चाहिये

था, पर वह तो मेरे पास चलकर आ गया, यह तो मुझपर उसका ऋण हो गया।

७०–शरण दो प्रकारकी होती है—बाह्य-शरण एवं आन्तरिक (शुद्ध) शरण।

७१–भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यदि सभी चीजें छूटती हों तो भी परवा मत करो। जो सचमुच भगवान्‌को पानेके लिये भगवान्‌के मार्गपर चलता है, वह संसारके समस्त मोहको छोड़ देता है।

७२–विषयी और मुमुक्षुमें यही अन्तर है कि विषयीका मुख संसारकी ओर रहता है और मुमुक्षुका मुख भगवान्‌की ओर।

७३–विषयी और मुमुक्षु—दोनोंके मार्गमें सर्वथा विरोध रहता है। विषयी चाहता है संसारका सुख, मुमुक्षु सांसारिक सुखोंका त्याग करता है। विषयी चाहता है मान-सम्मान, मुमुक्षु मान-सम्मानसे दूर भागता है। जिस-जिस चीजको विषयी चाहता है, मुमुक्षु उस-उस चीजका त्याग करता है; क्योंकि विषयीका लक्ष्य होता है विषयभोग और मुमुक्षुके लक्ष्य होते हैं भगवान्।

७४–रामके लिये आरामका त्याग करो। भरतजीने रामके लिये आरामका सर्वथा त्याग कर दिया था।

७५–गुरु वसिष्ठ एवं माता कौसल्यातकने भरतको राज्य स्वीकार करनेके लिये बड़ा आग्रह किया। यहाँतक कह दिया कि 'बेटा! यह गुरुकी आज्ञा है, माताकी आज्ञा है, यह धर्म-पालन है।' पर भरतजी नहीं फँसे! साधकोंके जीवनमें भी धर्मके नामपर इसी प्रकारके प्रलोभन आते हैं।

७६–राज्यलक्ष्मी श्रीरामकी भोग्या थीं, फिर भरत उसे क्योंकर भोग सकते थे।

७७–लक्ष्मी भगवान्‌की भोग्या हैं; ये तुम्हारे पास हों तो उन्हें मा समझकर इनकी सेवा करो; इन्हें भगवान्‌की सेवामें लगाते रहना ही इनकी सेवा करना है। इन्हें अपनी भोग्या मत समझो।

७८–तुम्हारे पास जो कुछ है, उसमें केवल तुम्हारा ही नहीं बहुतोंका हिस्सा है। सबको हिस्सा देकर जो बचे, वही यज्ञावशेष है। उसे भोगो, उसे ही खाओ। वह अमृत है। ऐसा नहीं करते तो समझो तुम चोर हो, पापजीवन हो।

७९–सभी चीजें भगवान्‌की हैं, पर जब मनुष्य उन चीजोंको अपनी मान लेता है, तब फिर पाप आये बिना नहीं रहते।

८०–मनुष्य विषयोंमें इतना रच-पच गया है कि कहीं कभी भगवान्‌को स्मरण करता भी है तो विषयोंके लिये ही करता है। इस प्रकारके भगवत्स्मरणमें साध्य भगवान् नहीं हैं। साध्य तो विषय हैं और विषय-प्राप्तिके लिये साधन भगवान् हैं; पर इस प्रकार विषयोंके लिये भी सचमुच भगवान्‌को भजनेवाले बहुत ही थोड़े होते हैं।

८१–सकामी भक्तोंमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि भगवान् निश्चय ही मेरी कामना पूर्ण कर देंगे। वे एकमात्र भगवान्‌को ही अपनी कामना-पूर्तिके लिये अवलम्बन बनाते हैं।

८२–ध्रुवजीको राज्य चाहिये था, उन्होंने सब भरोसा छोड़कर भगवान्‌को पुकारा। इसी प्रकार यदि कोई विश्वासपूर्वक धनके लिये आज भी भगवान्‌को पुकारे तो भगवान् अवश्य सुनें। पर हमलोग धनके लिये दूसरा ही आश्रय लेते हैं। कुछ लोग अन्य पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करते हैं और कुछ लोग तो चोरी, डकैती, पाप आदिको धन-प्राप्तिका साधन बनाते हैं। इन अन्तिम श्रेणीके लोगोंको धन

तभी मिलता है, जब कि प्रारब्धमें होता है । प्रारब्धमें नहीं होता नहीं मिलता, पर पाप इनके पल्ले अवश्य बँध जाते हैं, जिनका ल दुःख और नरक मिलना निश्चित है ।

८३—एक आदमी है । वह धन चाहता है, पर चाहता है गवान्से । उसे धन भी मिलेगा और अन्तमें भगवान्की प्राप्ति भी होगी । नके लिये भी केवल भगवान्का आश्रय लेना बड़ा कठिन है ।

८४—यदि अनन्य-आश्रय भगवान्का हो तो जो कुछ भी हमारे लेये आवश्यक होगा, भगवान् हमारे पास निश्चय ही उसे स्वयं पहुँचा देंगे । पर अनन्य-आश्रय ही नहीं होता, मन डिग जाता है, भगवान् करेंगे कि नहीं ऐसा संदेह उत्पन्न हो जाता है और हम दूसरे-दूसरे उपायोंका अवलम्बन करने लग जाते हैं ।

८५—भगवान्पर पूरा विश्वास होनेपर भगवान्की ओरसे निश्चय योगक्षेमका निर्वाह होगा ही । नहीं होता है तो निश्चय ही विश्वासमें कमी है ।

८६—भगवान्पर पूरी निष्ठा होनी चाहिये, फिर जिस प्रकार भगवान् द्रौपदीके लिये साड़ी बन गये, वैसी ही घटना आज भी हो सकती है ।

८७—गजराजको भगवान्ने स्वयं आकर उबारा, धन्ना भक्तके खेतमें स्वयं भगवान् पधारे । माधवदासजी एक भक्त थे, उन्हें टट्टी लगती थी । भगवान्ने स्वयं अपने हाथोंसे उनका मल धोया । इस प्रकारकी घटना आज भी सम्भव है, पर भगवान्पर विश्वास नहीं, उनका आश्रय नहीं, इसलिये ये बातें असम्भव-सी मालूम पड़ने लग जाती हैं ।

८८—भगवान्में एक दोष है, वह यह कि उन्हें दूसरा नहीं सुहाता। वे पूरी-पूरी निर्भरता चाहते हैं।

८९—वर्तमान युद्धसे लोग बहुत घबड़ाये हुए हैं, पर शान्तिका जो असली उपाय है उसे करते नहीं। शान्तिके लिये तीन बातें करें—

( क ) मनसे अपने-आपको, अपनी समस्त वस्तुओंको भगवान्के अर्पण कर दें।

( ख ) 'हरिः शरणम्' इस मन्त्रका जप चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते निरन्तर करते रहें।

( ग ) भगवान्से प्रार्थना करें—प्रभो! तुम्हें जो ठीक जँचे, वही करो। हमारी चाह यदि तुम्हारी चाहके विपरीत हो तो उसे नष्ट कर दो। नाथ! तुम्हारी चाह मङ्गलमयी है, मैं तो भूल भी कर सकता हूँ नाथ! बच्चा यदि आगमें हाथ डालना चाहता है, तो क्या मा हाथ डालने देती है? स्वामिन्! मैं भी अबोध बच्चेकी तरह अमङ्गलको मङ्गल मान सकता हूँ, पर तुम मेरी चाहकी ओर ध्यान मत दो, मुझे रोने दो, तुम अपनी इच्छा पूरी करो।

९०—यदि उपर्युक्त तीन बात करने लगें तो निश्चित है—कभी अमङ्गल नहीं हो सकता।

९१—हम जिस बातमें अपना मङ्गल मानते हैं, कौन जानता है—उसमें शायद अमङ्गल-ही-अमङ्गल भरा हो। पर भगवान् जानते हैं। जहाँ भगवान्पर छोड़ा कि वे बचा लेंगे, हमारी बुद्धि तो परिमित है। हम दूरकी बात नहीं सोच सकते; नहीं जानते, पर भगवान् सर्वज्ञ हैं, उनसे कभी भूल नहीं हो सकती। इसलिये अपना मङ्गल भगवान्-पर छोड़ दो, इसीमें बुद्धिमानी है।

९२–हमारे हाथमें एक लड्डू है, ताजा है, मीठा, रसीला, सभी तरह सुन्दर है, पर उसमें संखिया मिला हुआ है, हम उसे नहीं जानते, हम केवल बाहरी सुन्दरतापर—मिठासपर मुग्ध होते हैं, ऐसे ही बहुत बार, जिससे हमारी हानि होगी, उसमें हम मङ्गल मान बैठते हैं। ऐसी भूल हमसे होती ही है। उधर भगवान्‌से कुछ नहीं छिपा है, उनसे भूल होती ही नहीं।

९३–घर-घरमें कीर्तन कीजिये, फिर अमङ्गल दूर हो जायगा।

९४–अर्जुनने प्रण किया, सूर्यास्त होनेके पहले-पहले जयद्रथ-को मार दूँगा, नहीं मारूँगा तो आगमें जलकर मर जाऊँगा। लोगोंने देखा—सूर्य अस्त हो गया, जयद्रथ नहीं मरा। अर्जुन चिता बनाकर जलनेके लिये तैयार हुए। सब भाई तमाशा देखनेके लिये आये। जयद्रथ भी आया, क्योंकि अब उसे अर्जुनका भय नहीं था। अर्जुन-से श्रीकृष्णने पूछा—'भैया अर्जुन! तुमने ऐसा प्रण क्यों किया था?' अर्जुनने कहा—'महाराज! आपके भरोसेपर।' श्रीकृष्णने कहा—'तो बाण संधान करो।' लोगोंने आश्चर्यसे देखा, अर्जुनने भी देखा, अभी तो सूर्य हैं, अस्त नहीं हुए हैं, अस्त होनेका भ्रम हो गया था। अर्जुनने बाण संधान किया और जयद्रथ मारा गया। भला, यह बात किसीकी कल्पनामें भी आ सकती थी कि अस्त हुए सूर्य फिर उसी दिन उदय हो जायँगे? पर भगवान्‌के लिये कौन बड़ी बात है, वे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनपर विश्वास होना चाहिये।

९५–मनुष्यका यह एक स्वभाव-सा है कि वह दूसरेकी स्थिति-में सुख समझता है। वह सोचता है कि अमुक व्यक्तिके पास भोग-सुखकी इतनी सामग्रियाँ हैं तो वह निश्चय सुखी होगा। ऐसा सोचकर वह वैसा बनना चाहता है। कहीं बन जाता है तो फिर सोचता है

कि अरे, यहां तो दुःख ही है; वे-वे चीजें और हों जैसी अमुकके पास है, तो सुखी होऊँ। यदि वे चीजें भी मिल गयीं तो फिर भी यही अनुभव करता है कि अरे सुख तो यहाँ भी नहीं है, यहाँ भी वही जलन है। इस प्रकार वह सुख खोजता रह जाता है, पर उसे सुख नहीं मिलता। मिल भी नहीं सकता, क्योंकि यहाँ सुख हो तब न मिले। सुख तो भगवान्‌में है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है 'यह संसार अनित्य है, इसमें सुख है ही नहीं। सुख चाहिये तो हमारा भजन करो।'

**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥**

(गीता ९। ३३)

९६—जहाँ अभावका अनुभव होता है, वहाँ उसकी पूर्तिकी इच्छा होती है। उसके लिये चेष्टा होती है और उसकी पूर्तिके साथ-साथ ही कई नये अभावोंकी सृष्टि हो जाती है। लड़का नहीं है, लड़केका अभाव दुःख देता है। अब कहीं लड़का हो गया तो उसके पालन-पोषणके लिये धन चाहिये, उसका विवाह करना होगा, उसके लिये बहुत सामान चाहिये। इस प्रकार लड़केका अभाव तो दूर हुआ; पर कई नये अभाव खड़े हो गये। बस, एक अभावकी पूर्ति हुई तो दूसरेकी पूर्तिमें लगे, तीसरेके होनेपर चौथेमें। इस तरह अभावकी पूर्ति करते-करते अनमोल मनुष्य-जीवन समाप्त हो जाता है। जिस जीवनसे परम दुर्लभ वस्तु भगवान् मिल सकते हैं, वह अभावोंकी पूर्ति करनेमें बीता और अभाव बने ही रहे। इससे बड़ी हानि और क्या होगी।

९७—अभावकी पूर्ति उद्देश्य हो जानेपर व्याकुलता उत्पन्न होती है और बुद्धि बिगड़कर कार्य-अकार्यका ज्ञान नष्ट हो जाता है।

इसलिये प्रत्येक अभावकी पूर्तिके साथ ही पापका ढेर भी संग्रहीत हो जाता है। अब सोचिये, केवल जीवन निष्फल ही नहीं हुआ, आगेके लिये पापका ढेर ढोकर साथ ले चले, जिसका फल दुःख-ही-दुःख है।

९८–संसारमें सफलताकी पूजा होती है। सफल होनेपर तो साथियोंकी भरमार, पूजाकी भरमार रहेगी, पर असफल हुए तो फिर कोई भी नहीं पूछेगा।

९९–मनमें योजनाएँ बनाते रहें, पर मृत्यु आ गयी तो योजनाएँ सब-की-सब धरी रह जायँगी। तीन साल पहलेकी बात है—अपने धनको सत्कार्यमें लगानेके लिये एक बहुत धनी पुरुषने कई योजनाएँ सोची थीं, पर कुछ कर नहीं पाये, मृत्यु हो गयी। इसीलिये शुभ कार्यको कलपर मत रक्खो, शीघ्र-से-शीघ्र कर डालो।

१००–भगवान् पूर्ण हैं, उन्हींमें आत्यन्तिक सुख है। वहाँ जरा भी अभाव नहीं है; उन्हें प्राप्त करो। उन्हें पा जानेपर सर्वथा सब ओरसे पूर्ण हो जाओगे। अभाव सदाके लिये मिट जायगा। उन्हें एक बार पा लेनेपर फिर कभी उनसे वञ्चित नहीं रहोगे।

१०१–तनसे, मनसे, धनसे—सब प्रकारसे केवल भगवान्का ही भजन करो। यही उन्हें पानेका उपाय है। मनुष्य-देह उन्हींको पानेके लिये मिली है।

१०२–हिंसक-पशुकी अपेक्षा भी मनुष्य-पशु अधिक भयंकर है। पशुमें विवेक नहीं; पर मनुष्यमें विवेक है। मनुष्य होकर जब वह अपना विवेक पशुताके अभ्युदयमें लगाता है; तब उससे संसारका जितना अनिष्ट होता है, उतना अनिष्ट हिंसक पशु कर नहीं सकता।

१०३—यदि जीव पतनसे बचना चाहता हो तो उसे निश्चय ही भगवान्‌की ओर मुड़ना होगा।

१०४—जो कुछ मनमें होता है, वही बाहर निकलता है। यह जो महायुद्ध इस समय देख रहे हैं, वह अकस्मात् आ टपका हो—यह बात नहीं। इसका मनके अंदर-ही-अंदर बहुत पहलेसे निर्माण हो रहा था, अब वह बाहर सामने आ गया है।

१०५—यदि हम जगत्‌में सुख-शान्ति चाहते हैं तो अपने-अपने मनमें भगवान्‌को लावें। पहले वहाँ सुख-शान्ति होगी, फिर वही सुख-शान्ति सबके सामने बाहर आ जायगी। हम मनमें भजते हैं पाप, अशान्त, दुःख और दुर्भिक्षको फिर सुख-शान्तिका विस्तार बाहर किस प्रकार हो।

१०६—जिस प्रकारसे भी हो, मनको पापसे अलग रक्खे।

१०७—यदि कोई छायाको पकड़ना चाहे तो छाया और भी आगे-आगे बढ़ती चली जायगी, पर यदि सूर्यकी ओर मुँह करके कोई दौड़ने लग जाय तो छाया उसके पीछे-पीछे दौड़ने लग जाती है। इसी प्रकार संसारके सुख-ऐश्वर्यके पीछे दौड़नेपर वह आगे-आगे भागता चला जाता है, हाथ नहीं आता। पर यदि मनुष्य इसकी ओर पीठ करके भगवान्‌की ओर दौड़ता है तो ये सब उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं।

१०८—जितना ही सुविधाओंको प्राप्त करनेका प्रयत्न होगा, उतनी ही असुविधाएँ होंगी।

## ( तृतीय माला )

१–यह विचार होना चाहिये कि हमारा असली कर्तव्य क्या है। फिर तो काम हो जायगा।

२–कर्मोंका फल भगवान्‌के हाथमें है और भगवान्‌के विधानसे जो भी फल प्राप्त होता है, वही मङ्गलमय है।

३–विपत्तिसे, मनकी प्रतिकूल अवस्थासे घबरानेकी आवश्यकता नहीं है तथा ऐसी परिस्थितिमें पड़कर, आवेशमें आकर कुछ करनेमें भी लाभ नहीं है। इस बातको निश्चय मान लेना चाहिये कि भगवान्‌के विधानसे आयी हुई विपत्तिमें, मनके प्रतिकूल परिस्थितिमें वस्तुतः मङ्गल-ही-मङ्गल है।

४–विपत्तिसे रक्षाका, त्राण पानेका उपाय भी भगवत्स्मरण ही है।

५–द्रौपदीने देख लिया—कहीं कोई भी सहारा नहीं है। सहायताके सभी रास्ते बंद हो जानेपर ही उसे भगवान् सूझे। उसने पुकारा। पुकारने भरकी देर थी, तुरंत भगवान्‌का चीरावतार हो गया। विश्वास कीजिये, यदि विपत्तिसे बचनेके लिये आप भी भगवान्‌को याद करेंगे तो भगवान् आपको भी निश्चय बचा लेंगे।

६–प्रेम एकमें ही होता है और वह भगवान्‌में ही होना सम्भव है। प्रेमका वास्तविक अर्थ ही है—भगवत्प्रेम।

७—विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम, उज्ज्वल प्रेम जब होगा, तब भगवान्में ही होगा और ऐसा होनेपर सारा ममत्व सब ओरसे सिमटकर एक भगवान्में ही लग जाता है।

८—जब भगवान्के प्रति प्रेम होने लगता है, तब दूसरी समस्त वस्तुओंसे प्रेम हटने लगता है—यह नियम है और प्रेम हो जानेपर तो प्रेमी सबकी सुधि ही भूल जाता है। वह तो प्रेम ही कहता है, प्रेम ही सुनता है, प्रेम ही देखता है और चारों ओरसे प्रेम-ही-प्रेमका अनुभव करता है।

९—प्रेमकी पूर्णता कभी होती ही नहीं। मुझे पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया इस प्रकारका अनुभव प्रेमी कभी करता ही नहीं।

१०—प्रेमीको अपने प्रेममें सदा कमीका अनुभव होता है।

११—प्रेमकी कोई सीमा नहीं है।

१२—प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता है, निरन्तर बढ़ते रहना उसका स्वरूप है।

१३—प्रेम कहीं भी रुकता नहीं।

१४—प्रेममें सब कुछ अर्पण हो जाता है, यहाँतक कि प्रेमी स्वयं भी प्रेमास्पदके अर्पित हो जाता है। सम्पूर्ण त्याग या सम्पूर्ण समर्पण ही प्रेमका स्वभाव है।

१५—जो प्रेम दूसरी-दूसरी वस्तुओंमें बँटा हुआ है, वह प्रेम वस्तुतः प्रेम ही नहीं है।

१६—भगवान् श्रीरामने प्रेमका स्वरूप बतलाया है—

**तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥**
**सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥**

१७–प्रेम वाणीका विषय नहीं है।

१८–प्रेम रहता है मनमें—और मन अपने काबूमें रहता नहीं, ः रहता है प्रेमास्पदके काबूमें। प्रेमका यह साधारण नियम है।

१९–प्रेमीके मनपर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा—सबपर अधिकार हो जाता है प्रेमास्पद श्रीभगवान्‌का।

२०–प्रेम उत्पन्न हो जानेपर मन, बुद्धि अर्पण करने नहीं पड़ते; वे स्वतः अर्पण हो जाते हैं।

२१–प्रेम बड़ी दुर्लभ वस्तु है, यह सहजमें नहीं मिलता; और जिसे मिल जाता है, उसके समान भाग्यशाली कोई नहीं।

२२–प्रेममें वस्तुतः भगवान्‌का कभी वियोग नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी बाहर नहीं जाते। श्रीगोपीजनों-को छोड़कर किसी समय भी कहीं नहीं जाते। श्रीगोपीजनोंने उद्धवको दिखला दिया था कि श्रीकृष्ण गोपीजनोंके पास ही निरन्तर रहते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेमी बनकर श्रीगोपीजनोंको प्रेमास्पदा समझते हैं।

२३–प्रेमास्पद प्रेमीका ही बन जाता है। श्रीकृष्ण भी गोपिकाओं-के ही बन गये। उन्होंने कहा—गोपिकाओ! देवताओंकी-जैसी आयु धारण करके भी मैं तुम्हारा यह प्रेम-ऋण चुका नहीं सकता।

२४–प्रेमका ऋण चुकानेके लिये भगवान्‌के पास कुछ भी नहीं रहता, पर प्रेमी उन्हें ऋणी नहीं बनाता। उन्हें ऋणी मानकर उनसे कुछ चाहे, ऐसा प्रेमी कभी नहीं करता।

२५–जहाँ कुछ भी अपनी चाह है, वहाँ प्रेम नहीं है।

२६–प्रेमीका सुख इसीमें है कि उसका प्रेमास्पद सुखी रहे—'तत्सुखे सुखित्वम्'।

२७–हमारे दुःखसे यदि प्रेमास्पद सुखी होता हो, तो वह दुःख हमारे लिये सुख है—यह प्रेमीका हार्दिक भाव होता है। ऐसे दुःख-को, ऐसी विपत्तिको वह परम सुख—परम सम्पत्ति मानता है। मानता ही नहीं, सर्वथा ऐसा ही अनुभव करता है।

२८–प्रेमका स्वभाव विचित्र है, इसमें त्याग-ही-त्याग—देना-ही-देना है।

२९–प्रेमी प्रेमास्पदको अखण्ड सुखी देखना चाहता है, उसको सुखी देखकर ही वह सुखी होता है। प्रेमीके सुखका आधार है—प्रेमास्पदका सुख। इसी भावका जितना-जितना विकास इस जगत्में जहाँ-कहीं भी होता है, वहाँ उतना ही पवित्र भाव होता है।

३०–दूसरेके सुखके लिये अपने सुखका त्याग होना पवित्र भाव है।

३१–भगवान् जिसे अपना प्रेम देते हैं, उसका सब कुछ हर लेते हैं। किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रह जाती, समस्त ममता भगवान्में जुड़ जाती है और इसे लेकर वह एक ही बात चाहता है—कैसे मेरे प्रेमास्पद सुखी हों।

३२–भगवान् जब अपने आपको किसीके हाथ बेच देना स्वीकार कर लेते हैं, तभी किसीको अपना प्रेम देते हैं।

३३–भगवान् प्रेमके साथ ही अपने-आपको भी दे डालते हैं। यह सौदा महँगा नहीं, बड़ा ही सस्ता है। हमारा सब कुछ जाय और बदलेमें भगवान् मिल जायँ, इसके समान कोई लाभ नहीं—यह परम लाभ है।

३४–बुद्धिमान् जन प्रेमके लिये मोक्षको भी भगवच्चरणोंमें अर्पित कर देते हैं।

३५-भगवान् मोक्ष देना चाहते हैं, पर प्रेमीजन उसे स्वीकार ही नहीं करता।

३६-जिसे प्रेम प्राप्त हो जाता है, उसके ऊपर और कोई बन्धन तो रहता ही नहीं। रहता है केवल एकमात्र प्रेमका बन्धन। भला, प्रेमी प्रेमके बन्धनसे कभी छूटना चाह सकता है ? यह बन्धन तो उसके परम सुखका आधार है। जो इस बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वह तो प्रेमी ही नहीं है।

३७-इस प्रेमके बन्धनमें जो आनन्द है, उसकी तुलना लाख मुक्तियोंसे भी नहीं हो सकती। प्रेमानन्द बड़ा ही विलक्षण आनन्द है। इसका एक कण प्राप्त करके ही मनुष्य निहाल हो जाता है।

३८-प्रेमका विकास और तुच्छ स्वार्थबुद्धिका नाश—दोनों साथ-साथ होते हैं।

३९-जबतक स्वार्थका त्याग नहीं है, तबतक भगवान्में प्रेम नहीं है।

४०-भगवान्में प्रेम होनेसे त्याग होता है, त्यागसे पवित्रता आती है।

४१-जितना-जितना भोगोंसे प्रेम हटता जायगा, उतनी-उतनी पवित्रता आती जायगी।

४२-भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर प्रेमकी बाहरी दशा दोमेंसे एक होती है। या तो जगत्से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है या जगत्में प्रवृत्ति हो जाती है। पहली अवस्थामें वह उन्मत्तकी तरह प्रतीत होने लगता है, दूसरीमें समस्त जगत्को भगवान्के रूपमें दर्शन करता हुआ सबकी सेवा करता है, सबकी पूजा करता है। दोनों ही

अवस्थाओंमें जगत्के पहलेवाले रूपसे तो उसकी निवृत्ति ही रहती है, जगत्के पहलेवाले रूपको तो वह भूल ही जाता है।

४३—जहाँ देखता है, वहीं श्याम—एक तो यह अवस्था होती है। दूसरे प्रकारकी अवस्था यह है कि श्यामके सिवा और कुछ सुहाता ही नहीं। दोनों ही अवस्थाएँ पवित्रतम हैं, पर बाहरी लीलामें भेद होता है।

४४—कहीं तो श्यामसुन्दर नहीं दीखते और उनके लिये अभिसार होता है तथा कहीं यह भाव होता है—यहाँ भी वही, वहाँ भी वही—'जित देखूँ तित स्याममयी है।' ये दोनों भाव वस्तुतः दो नहीं—एक ही भगवत्प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं।

४५—भगवत्प्रेममें एक बात तो निश्चय ही होगी कि प्रेमास्पद भगवान् और प्रेमीके बीचमें किसी दूसरेके लिये स्थान नहीं रहेगा।

४६—प्रेम दोमें नहीं होता। वह एकहीमें होता है और एक ही प्रेमास्पद सब जगहसे प्रेमकी दृष्टिको छा लेता है। एक ही प्रेमास्पद सर्वत्र फैल जाता है।

४७—प्रेमका विकास होनेपर सर्वत्र भगवान् दीखते हैं।

४८—प्रेमास्पद भगवान्का रूप अनन्त होनेसे प्रेमीकी प्रेममयी अवस्था भी अनन्त है। प्रेमियोंकी न मालूम क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं।

४९—प्रेम अखण्ड होता है।

५०—भगवान् प्रेम हैं और प्रेम ही भगवान् है।

५१—प्रेम भगवत्स्वरूप है, मन-वाणीका विषय नहीं। इसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। यह तो अनुभवकी वस्तु है।

५२—जहाँसे स्वार्थका त्याग होता है, वहींसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है। स्वार्थ और प्रेम—दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते।

५३—सांसारिक प्रेममें भी, यह निश्चित है कि जहां त्याग नहीं है, वहाँ प्रेम नहीं है । जहाँ प्रेम है, वहाँ त्याग होगा ही ।

५४—जैसे-जैसे भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे स्वार्थका त्याग होता चला जायगा ।

५५—जहाँ अपनी चाह है, परवा है, त्यागकी तैयारी नहीं है, वहाँ प्रेम कहाँ ?

५६—मामूली किसी मनुष्यसे प्रेम कीजिये, उसमें भी त्यागकी आवश्यकता होगी ।

५७—माँका अपने बच्चेके लिये प्रेम रहता है । देखिये, वह बच्चेके लिये कितना त्याग करती है । इसी प्रकार गुरु-शिष्य, पति-पत्नी—जहाँ कहीं भी प्रेमका सम्बन्ध है, वहाँ त्याग है ही ।

५८—प्रेम हुए विना असली त्याग नहीं होता ।

५९—सब प्रकारका सहन ( तितिक्षा ) प्रेममें होता है । म करना आरम्भ कर दें फिर तितिक्षा तो अपने-आप आ जायगी । ा बीमार है, पर बच्चा परदेशसे आ गया; मा उठ खड़ी होगी, स बीमारीकी अवस्थामें ही बच्चेके लिये भोजन बनाने लगेगी । ह तितिक्षा प्रेमने ही उत्पन्न कर दी है ।

६०—यह सत्य है कि प्रेमका वास्तविक और पूर्ण विकास भगवत्प्रेममें ही होता है; पर जहाँ कहीं भी इसका आंशिक विकास देखा जाता है, वहाँ-वहाँ ही त्याग साथ रहता है । गुरु गोविन्दसिंहके बच्चोंमें धर्मका प्रेम था, उन्होंने उसके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी बलि चढ़ा दी । सतीत्वमें प्रेम होनेके कारण अनेक आर्य-रमणियोंने प्राणोंकी आहुति दे दी ।

## ( चतुर्थ माला )

१—जबतक भगवान्‌की ओर मुख नहीं हो जाता, तबतक यथार्थमें सुख एवं सुविधाएँ नहीं मिल सकतीं। यहीं मनुष्य भूल करता है, सुख एवं सुविधाएँ चाहता है, पर चलता है भगवान्‌की ओर पीठ देकर।

२—यह याद कर लेनेकी बात है कि मनसे, वाणीसे, शरीरसे दिन-रात—चौबीसों घंटे ही निरन्तर भजन होता रहे।

३—निरन्तर दिन-रात भजन हो—इसके लिये कुछ समय प्रतिदिन एकान्तमें बैठकर भजनका अभ्यास करे। मान लें यदि दो घंटे एकान्तमें बैठकर लगातार भजन करेंगे, तो फिर इससे शेष बाईस घंटे तक भजन करनेकी शक्ति मिलती रहेगी।

४—भगवद्भजनका सबसे सरल प्रकार है—भगवान्‌के नामका स्मरण—नामका-जप। स्मरण न हो सके तो जीभसे ही निरन्तर नाम लेनेका अभ्यास करे। नामके द्वारा असम्भव सम्भव होता है।

५—प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन एकान्तमें बैठकर लगातार कम-से-कम दो घंटे नाम-जपका अवश्य अभ्यास करना चाहिये।

६—प्रतिदिन कुछ समय भगवान्‌की प्रार्थनाके लिये भी नियत होना चाहिये। भगवान्‌की प्रार्थनामें, भगवान्‌की स्तुतिमें बड़ा बल है।

७—भगवान्‌के स्तवनसे भगवान्‌के गुणोंकी स्मृति होती है।

८—भगवान्‌के स्तवनमें सबसे पहिली चीज है—भगवान्‌पर अटल विश्वास।

९—प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर भगवान्‌से प्रार्थना करे और माँगे—प्रभो ! आज समस्त दिन आपकी अनुकूलतामें ही बीते ।

१०—सर्वोत्तम काम है—दिन-रात भजन करना ।

११—यदि मनुष्य चेष्टा रक्खे तो एक लाख नाम-जप, नहीं सही—पचास हजार नाम-जप तो बहुत आसानीसे कर सकता है ।

१२—नाम लेते-लेते अन्तरके मलका नाश होता है, फिर नाम-का स्वाद प्रकट होता है । नाममें स्वाद आ जानेपर तो फिर नाम छूटना कठिन हो जाता है ।

१३—भजन-स्मरणमें रस आ जानेपर यदि कभी क्षणभर भी भगवान्‌की विस्मृति होती है, तो महान् व्याकुलता होती है ।

१४—निरन्तर भजनका अभ्यास नहीं हो जानेतक नियमपूर्वक भजन करनेकी आवश्यकता है ।

१५—नामकी पूँजी खरी पूँजी है । यह जिसके पास है, उसे यमराजका भय नहीं है ।

१६—संकेतसे—परिहाससे भी यदि भगवान्‌का नाम जीभपर आ गया तो सब पाप जल जाते हैं ( श्रीमद्भा० ६ । २ । १४ ) ।

१७—जहाँ भगवान्‌का नाम होता है, वहाँ यमदूत नहीं आ सकते ।

१८—इस कलियुगमें भगवान्‌के नाम लेनेवाले तथा दूसरेसे लिवानेवाले अत्यन्त भाग्यवान् एवं कृतार्थ हैं—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे ॥

केवल माननेकी ही बात नहीं है। असलमें यही बात है। भगवान्‌की पूर्ण कृपा है ही। निश्चय करो। निश्चय करते-करते कृपाका अनुभव हुआ कि पूर्णरूपसे भगवच्चरणोंमें समर्पित हो जाओगे।

४१—सारे साधनोंका प्राण है—भगवान्‌का नाम। 'नाम रामको अंक है, सब साधन हैं सून।' खूब भजन करो और दूसरोंसे करवाओ।

४२—मनुष्य सदा डरता रहता है। अपमानका, अकीर्तिका, शरीरनाशका डर उसे घेरे रहता है। वह कभी निर्भय नहीं हो पाता। पर यदि वह भगवान्‌की शरण ले ले तो फिर सर्वथा निर्भय हो जाय। भगवान् रामने कहा है कि 'जो एक बार मेरी शरण ले लेता है, उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

४३—मनुष्य यहाँ उस वस्तुको पानेके लिये आया है, जिसे पाकर कह सके कि मैं अमर हो गया हूँ। वह वस्तु है भगवान्‌की प्राप्ति—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति।

४४—सृजन और संहारकी लीला चलती रहती है। बच्चा है; वह जवान होगा, बूढ़ा होगा और फिर मर जायगा। यह नहीं हो तो फिर शैशव, यौवन और बुढ़ापेकी लीला कैसे देखनेको मिले। ऐसा न होनेसे तो जगत्‌की शोभा ही न रहे।

४५—भगवान्‌की प्राप्ति ही इस जीवनका लक्ष्य है। यहाँ बड़े-छोटे बनते रहनेमें कुछ भी नहीं धरा है। न जाने—हम कितनी बार इन्द्र बने होंगे और कितनी बार चींटे।

४६—स्वाँगके अनुसार जो पार्ट हमें मिला है, हम करें; पर यह याद रक्खें कि यह नाटक है और अपने खेलको खूब अच्छी तरह खेलकर मालिकको रिझाना है।

पड़ता है, तो दुखी हो जाता है। यह नहीं करके सोच ले कि- पालपर बैठना तो बहुत ही उत्तम बात है—सादगीसे जीवन बिता का चिह्न है, तो बस, सुखी हो जाता है। अतः सुख-दुःख गद्दे पालमें नहीं हैं, वे हैं मनकी कल्पनामें।

८५—चाहे कोई बड़े-से-बड़ा आदमी हो, संत हो, महात्मा हं पर स्त्री-जातिको चाहिये कि उसका स्पर्श न करे। अपने पतिको छोड़ कर युवतीको किसी भी पुरुषका स्पर्श कभी भी नहीं करना चाहिये

८६—पुरुषको चाहिये कि पर-स्त्रीमें मातृभाव अथवा भगवद्भा करे। उसे अभ्यास करना चाहिये कि जहाँतक हो सके पर-स्त्रीक मुख देखे ही नहीं।

८७—ज्योतिको देखकर पतङ्ग उसकी ओर दौड़ता है और जहाँ समीप गया तथा उस रूपको अपनाना चाहा कि जलकर खाक हो गया। विषयोंकी ओर मन चलनेपर लोगोंकी यही दशा होती है।

८८—जिस प्रकार धर्मशालामें रहा जाता है, वैसे ही संसारमें रहो। धर्मशालामें रहनेवालेको चाहिये कि वहाँके आदमियोंसे प्रेम रक्खे। जहाँतक सम्भव हो, उनको सुख दे। ऐसा करनेसे वह भी सुख पायेगा। इसी प्रकार संसारको धर्मशाला मानकर सबसे प्रेम करो, जहाँतक हो सबको सुख दो। फिर तुम भी सुख पाओगे।

८९—मनुष्य-शरीर धर्मशाला है। हमलोग मुसाफिर हैं। कुछ देरके लिये ठहरे हुए हैं फिर घर पहुँचनेके लिये यात्रामें चल पड़ेंगे। भगवान्‌के पास पहुँचना ही घर पहुँचना है—इस बातको भूलकर कहीं धर्मशालाको ही अपना घर मान लोगे तो धर्मशाला तो छूटेगी ही प्रत्युत फौजदारीका मुकदमा चलेगा; फँस जाओगे। ऐसी मूर्खता मत करो।

९०—जहाँ स्वार्थ है, वहीं वैर होता है। त्यागमें वैर नहीं होता। भगवान् राम कहते हैं—'भरत! राज्य तुम्हारा है। पिताजी दे गये, तुम राज्य भोगो।' भरत कहते हैं—'राज्य आपका है। मेरा हो ही नहीं सकता।' अब वहाँ लड़ाई कैसे हो?

९१—राग और द्वेष विवेककी आँखको बदल देते हैं। जहाँ राग होगा—वहाँ दोष भी गुण दीखेगा। जहाँ द्वेष होगा—वहाँ गुण भी दोष दीखेगा।

९२—यदि हमारे शरीर तथा वाणीसे बुरे कर्म होते हैं तो यह मान लेना चाहिये कि निश्चय ही हमारे मनमें बुराई भरी है।

९३—संसारमें भोग प्राप्त हो जाना उन्नति नहीं है। जिसका हृदय उन्नत है, मन शुद्ध है, जिसके मनमें भगवान् बसते हैं—वही असलमें उन्नति है, उसीने अपनी असली उन्नति की है।

९४—जिसके मनमें बुरे विचार बसते हैं, उसे समझना चाहिये कि मेरे मनमें चोर, वैरी एवं साँप बसते हैं—ये मुझे मार डालेंगे। अतः इन्हें जिस-किसी प्रकारसे भी बाहर निकाल फेंके अथवा अंदर-ही-अंदर इन्हें नष्ट कर दे।

९५—मानसरोग सबसे बड़ा रोग है। शरीरका रोग तो इसी जीवनमें दुःख देगा और मरनेके साथ ही मर जायगा। पर मानस रोग तो मरनेके बाद भी साथ जायगा।

९६—मनुष्य-जन्ममें ही मनुष्य अपने मनकी गंदगी सर्वथा मिटा सकता है। वह मनुष्य-जन्म हमलोगोंको प्राप्त है। भगवन्नामरूप अग्निसे मनकी सारी गंदगीको जला डालिये।

९७—किसीके प्रति वैरकी भावना लेकर मत मरो। नहीं तो यह वैरकी भावना जन्मान्तरमें भी तुम्हारे साथ जायगी और तुम्हें

जलाती रहेगी । न मालूम कैसी-कैसी बीभत्स यन्त्रणामयी पिशाच-योनिमें भटकना पड़ेगा ।

९८—अपने मनका दोष ही दूसरोंपर आरोपित होता है । ( जवान भाई-बहिन हँस-हँसकर बातचीत कर रहे हैं, तो हम सोचें कि अवश्य ही ये कोई बुरी नीयतको लेकर बातचीत करनेवाले होंगे

९९—पराया कोई नहीं है । यह अपने-परायेकी सीमा हमारी अपनी बाँधी हुई है ।

१००—मनकी गंदगीको मिटानेके तीन उपाय हैं—

( १ ) भगवान्‌के नामका जप, ( २ ) स्वाध्याय एवं सत्सङ्गके द्वारा अच्छी बातोंको मनमें भरना और ( ३ ) दूसरोंका दोष देखना सर्वथा छोड़ देना । सर्वथा न छोड़ सके तो जहाँतक हो कम-से-कम दोष दीखे, ऐसा प्रयत्न करना ।

१०१—देखा-देखी बुरे आचरणोंको लोग अपना लेते हैं । वैसे ही तुम यदि शुभ आचरण करना आरम्भ करोगे तो उसे भी लोग देखा-देखी करने लग जायँगे । अतः स्वयं शुभका आचरण पहले करना आरम्भ कर दो, फिर शुभका विस्तार होगा ।

१०२—हमें दूसरे कामोंके लिये समय मिल जाता है, पर भजनके लिये नहीं ! ऐसा इसलिये होता है कि भगवान्‌का भजन, भगवान्‌की सेवा हमारे लिये बहुत ही कम महत्त्वकी वस्तु हो गयी है ।

१०३—भगवान्‌को भूल जानेका परिणाम कितना बुरा है, इसका भी पता नहीं है । जब यहाँसे चले जायँगे पापोंका ढेर साथ लेकर तथा वहाँ यातना-देह पाकर नरककी यन्त्रणा भोगनी पड़ेगी, तब पता लगेगा ।

१०४—भोगोंमें जो सुखका प्रकाश दीखता है, वह जलानेवाला है। शान्ति देनेवाला नहीं है। उसकी चकाचौंधमें मत फँसो।

१०५—जबतक शरीर ठीक है, इन्द्रियाँ ठीक-ठीक काम कर रही हैं, तभीतक मनको भजनमें लगानेका अभ्यास कर लो। शरीर बीमार हो जानेपर, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ क्षीण हो जानेपर मनको भजनमें लगानेका अभ्यास करना बड़ा ही कठिन है।

१०६—बुरे कामोंमें अपनी शक्तिको खर्च करना——बहुत बड़े दुःखको निमन्त्रण देकर बुलाना है। इसलिये भूलकर भी किसी बुरे कर्ममें हाथ मत डालो। बुरे कर्मकी मोटी परिभाषा यह मान लो कि जिस कर्मसे भगवान्‌से मन हटता हो, वही बुरा कर्म है।

१०७—इन्द्रियोंको बुरे कर्ममें लग जानेके बहुत-से साधन प्राप्त होते रहते हैं। मनुष्य यदि सावधान रहे तो बच सकता है। स्वयं सावधान रहनेपर भगवान्‌की सहायता तो मिलती ही है।

१०८—प्रतिकूलता प्राप्त होनेपर दुखी एवं अनुकूलता प्राप्त होनेपर मनुष्य सुखी होते हैं। पर मनुष्यको सोचना चाहिये कि इससे परे एक ऐसी स्थिति है, जहाँ यह सुख-दुःख नहीं है—वहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं है—केवल एकरस आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्द-ही-आनन्द !

---

## ( पञ्चम माला )

१—तुम पिछले अनन्त जन्मोंमें न मालूम कितने माता-पिताओंकी स्नेहभरी गोदमें खेले हो, कितनी पतिप्राणा प्रेमिकाओंके प्रेमरसमें डूबे हो, कितने पुत्र-पौत्रोंको वात्सल्यभावसे हृदयमें धारण कर चुके हो और कितने मित्र-सुहृदोंके स्नेहसे सुखी हो चुके हो। क्या आज भी उन लोगोंके साथ तुम अपने आत्माका कोई सम्बन्ध मानते हो? असलमें यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। एक सरायमें यात्रियोंका दल इकट्ठा हो गया है। समयपर अपने-अपने रास्ते चला जायगा।

२—यहाँका सम्बन्ध बालूकी भीतकी तरह अस्थिर है। इस सम्बन्धमें वास्तविक आत्मीयता नहीं है। यह सम्बन्ध है रूप-रसादि इन्द्रिय-विषयोंको लेकर—स्वार्थ, अभिमान और अज्ञानको लेकर। प्रेममय, प्रकाशमय सनातन पुण्यधाममें इस सम्बन्धकी कोई गणना ही नहीं है।

३—यहाँके प्रिय सम्बन्धी—स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या आदि वस्तुतः तुम्हारे आत्मीय नहीं हैं। यदि तुम सँभालकर बरतो तो वे हैं तुम्हें आध्यात्मिक जगत्‌तक पहुँचानेमें और विशुद्ध प्रेमप्राप्तिके अधिकारी बनानेमें सहायक और अवलम्बनरूप।

४—यह प्रपञ्च आत्माकी विलासभूमि नहीं है, यह है आत्म-नियन्त्रण, आत्मशुद्धि और आत्मज्ञानका विद्यालय।

५—जगत्‌में कौन साधु है और कौन असाधु, कौन भोगी है और कौन त्यागी, कौन महान् है और कौन क्षुद्र, कौन पण्डित है

और कौन मूर्ख, कौन बुद्धिमान् है और कौन अबोध, कौन धनी है और कौन दरिद्र——इसका पूरा पता लगना बड़ा कठिन है। न मालूम किस वेषमें कैसी-कैसी चेष्टाएँ चल रही हैं।

६—जगत्‌को लीलामयकी विचित्र लीला मानकर सुखी होओ और यह निश्चय करो कि जो इस सारे जगत्‌में सदा अनुस्यूत है, जो इसका एकमात्र आधार है, जो इसके पहले भी था और पीछे भी रहेगा, जो इसके अंदर भी है और बाहर—बहुत परे भी, जो अनादि है, अनन्त है, वही असलमें लीलाके रूपमें भी प्रकट हो रहा है। उसे पहचान लेनेपर फिर साधु-असाधु और अपने-परायेको अलग जाननेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

७—परोपकारकी न दूकान खोलो, न उसपर अभिमान करो। मनुष्य जाता है परोपकार करनेका व्रत लेकर और खोजने लगता है आत्मप्रतिष्ठा, आत्मपूजा और आत्मसम्मान। यह परोपकार नहीं, विडम्बनामात्र है——छलमात्र है।

८—उपदेश और ज्ञानके प्रचारका ठेका भी मत लो—पता नहीं, व्यक्तित्वकी पूजाकी छिपी लालसा ही इसमें कारण हो।

९—भगवान्‌का स्मरण करो, उनके सामने कातरभावसे रोओ, प्रार्थना करो—'भगवन्! मैंने हजारों अपराध किये हैं और अब भी कर ही रहा हूँ। मधुसूदन! मुझे अपना खरीदा हुआ गुलाम समझकर मेरे अपराधों-को क्षमा करो। प्रभो! मुझे पवित्र बनाकर अपने परमधामकी राहपर ले आना तुम्हारी कृपाका ही काम है। मैं तो डूबा जा रहा हूँ अघ-सागरमें, भटक रहा हूँ भयानक भवारण्यमें! बचाओ—मेरे स्वामी! बचाओ!

१०—अभिमान छोड़कर जो सच्ची प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना भगवान् उसी क्षण सुनते हैं। पर मनुष्य प्रार्थनाके समय भी दम्भ करता है। वह अपने अपराधों और दोषोंके लिये कभी दुखी होता ही नहीं, उन्हें देखता ही नहीं; फिर कपटभरी प्रार्थनापर भगवान् भला कैसे रीझें।

११—भगवान्‌का नाम महान् महिमामय है। नाम और नामी-में वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है।

**१२—नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।**
**पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नात्मा नामनामिनोः॥**

नामचिन्तामणि ही श्रीकृष्ण है; वह चैतन्य, रसविग्रह, पूर्ण पवित्र और नित्यमुक्त है। नाम और नामी दोनों अभिन्न हैं।

१३—जो मनुष्य सचमुच भगवान्‌के नामका आश्रय ले लेता है, वही भाग्यवान् है, वही सुखी है और वही सच्चा साधक है।

१४—जिसकी जीभ और चित्तवृत्ति भगवन्नाममें लगी है, वही साधु है, उसका जीवन धन्य है और उसका सत्सङ्ग सभीको वाञ्छनीय है।

१५—जिसकी जिह्वा निरन्तर पतितपावन हरिनामकी रट लगाती रहती है, वह चाण्डाल होनेपर भी सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि वही प्रभुका प्यारा है।

१६—भगवान्‌के नाम-कीर्तनसे पापोंका नाश ही नहीं होता। पापनाशके लिये तो शास्त्रोंमें अनेकों प्रायश्चित्त बतलाये हैं।

१७—नामसे सायुज्यमोक्षकी आकाङ्क्षा भी मिट जाती है; क्योंकि उस मोक्षमें प्रियतमके नाम-गुणका कीर्तन कहाँ ?

१८—श्रीहरिदास महाराजने कहा था—

केह बोले नाम हैते होय पापक्षय।
केह बोले नाम हैते मोक्ष लाभ हय॥
हरिदास कहे नामेर ए दुइ फल नहे।
नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजये॥

नामका फल तो है पञ्चम पुरुषार्थ—श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति। पापनाश और मुक्ति तो नामके आनुषङ्गिक फलमात्र हैं; जैसे सूर्यके उदय होनेपर प्रकाश होता ही है।

१९—जैसे जगत्के प्रकाशक प्रभाकरके प्रकट होते ही जगत्का सारा अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही नामरूपी सूर्यके उदय होते ही पाप-समूह समूल नष्ट हो जाते हैं। भगवान्का नाम अज्ञान-समुद्रसे तरनेके लिये तरणिके समान है। ऐसे जगन्मङ्गलकारी हरिनामकी जय हो! 'जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम।'

२०—धर्म क्या है और अधर्म क्या, पुण्य क्या है और पाप क्या, नित्य क्या है और अनित्य क्या, सत् क्या है और असत् क्या, पवित्र क्या है और अपवित्र क्या, सुख क्या है और दुःख क्या—जब पूरा विश्लेषण करके बुद्धि इनके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्ष करा दे, इनका सच्चा अनुभव करा दे, तब समझना चाहिये कि विवेक जगा है।

२१—जब मनुष्य यह जान लेता है कि भगवान् ही एकमात्र आनन्दस्वरूप हैं, उनकी प्राप्ति ही जीवनका परम और चरम ध्येय है, तभी विवेककी जागृति समझनी चाहिये।

२२—विवेकका पूर्ण उदय होते ही वैराग्य आता है। जब क्षणभङ्गुर अनित्य विषयोंसे चित्त हट जाता है, दुःखयोनि इन्द्रियसुखोंके प्रति विरक्ति आ जाती है, धरतीके धन-माल मल-से [illegible]

हैं, घर-द्वार धर्मशाला-से लगते हैं, परिवार-कुटुम्ब प्याऊपर इकट्ठे होनेवा बटोही दीखते हैं, मौज-शौकसे मन परे भागता है, यश-कीर्तिकी चाहसे को भी काम नहीं रहता, ऐश्वर्य-अधिकार-प्रभुत्व आदिकी बातें कानोंको कभ सुहाती ही नहीं, मानकी मनसा मर जाती है, परचर्चा और परनिन्दा सुननें बड़ा क्लेश होता है, मानापमान और स्तुति-निन्दाका भय भाग जाता है, न किसीकी चाह होती है न परवा, न अपेक्षा होती है न उपेक्षा, न कोई शत्रु होता है न मित्र, संतोष-शान्तिका साम्राज्य छा जाता है, दिन-रात केवल भगवत्स्मरण और भगवद्गुणगानकी ही इच्छा और चेष्टा बढ़ती रहती है, तभी समझना चाहिये कि वैराग्यदेवका शुभागमन हुआ है।

२३—मनुष्य सुख चाहता है, पर जानता नहीं सुख क्या है। जिसको वह सुख कहता है, वह वस्तुतः दुःखका ही प्रकार—भेद-मात्र है। या यों कहना चाहिये कि वह दुःखका अग्रदूत है।

२४—सुख आते ही पुकारकर कहता है कि 'देखो, दुःख अपने पूरे दलको लेकर मेरे पीछे ही आ रहा है। इसीसे जो सुख खोजता है, उसे दुःख मिलता है और जो सुखके सिरपर लात मारता है, दुःख स्वयं दुखी होकर उसके समीपसे भाग जाता है।

२५—विषय-सुखकी चाह ही दुःखका आवाहन है। और सुखकी अनिच्छा ही दुःखका दम निकाल देती है।

२६—सुखकी वासना ही बन्धनका प्रधान कारण है। गरीबीमें जब विषय-सुखकी वासना सीमित रहती है, तब उतना ही बन्धन भी कम होता है।

२७—जब सुखकी चाह कम होती है, तब उतनी ही चिन्ता भी कम होती है। जहाँ भोग-विलासरूप सुखकी स्पृहा आयी कि

ारों ओरसे फंदे पड़ने लगे ।

२८—मनुष्य स्वयं ही अपनी मूर्खतासे बँधता है और दुःखको बुलाकर उसकी आगमें जलता है ।

२९—जगत्के सम्बन्धोंका और प्रसिद्धिका प्रसार अशान्ति और दुःखका महान् हेतु है । शान्ति चाहते हो तो सम्बन्ध कम करो और छिपे रहनेकी व्यवस्था करो । जितना ही अधिक सम्बन्ध और सुनाम होगा, उतनी ही अधिक अशान्ति और क्षोभकी उत्ताल तरङ्गें उठेंगी, विरह और विनाशका भयानक दुःख सामने आयगा, अपकीर्तिके भयका भूत भी सदा सताता ही रहेगा ।

३०—जिस संसारमें चार दिन ही रहना है, उसमें सम्बन्ध बढ़ाना और नाम कमाना मूर्खता ही तो है ।

३१—भक्तिसे ही असली भक्ति आती है । भक्तिमें प्रधान वस्तु है—भजन ! भजनसे दो काम पहले होते हैं—क्लेशोंका नाश और शुभकी प्राप्ति । इसीसे भक्तिको 'क्लेशघ्नी' और 'शुभदा' कहते हैं ।

३२—क्लेश पाँच हैं—अविद्या ( उल्टी समझ ) अस्मित, ( मैंपना ), राग ( भोगोंमें चित्तकी फँसावट ), द्वेष ( पदार्थोंमें प्रतिकूल-भावना करके उनके नाशकी इच्छा ) और अभिनिवेश ( मृत्युकी भयानक भीति ) । शुभ हैं—विवेक ( सीधी समझ ), विनय ( अपनेको कुछ भी न मानकर भगवान्को ही सब कुछ मानना ), वैराग्य ( भोगोंसे चित्तकी विरक्ति ), प्रेम ( सबसे निःस्वार्थ सौहार्द ) और अमृतत्व ( आत्माकी अमरताका प्रत्यक्ष निश्चय ) । भजनसे उपर्युक्त पाँचों क्लेशोंका नाश और शुभोंकी प्राप्ति होती है । इनका फल होता है—भगवच्चरणोंमें एकान्त रति !

३३—भजन दो प्रकारका होता है—निष्ठापूर्ण और निष्ठारहित ।

निष्ठापूर्ण भजन निष्ठारहित सतत भजनका फल है ।

३४—निष्ठारहित भजनमें देखा-देखी आरम्भमें तो उत्साह होता है—पर कुछ ही समय बाद निराशा और निरुत्साह आ जाता है। कभी मन भजन करना चाहता है और कभी भोगोंकी प्राप्ति। कभी घरसे भागना चाहता है, तो कभी घरमें अत्यन्त रम जाता है। कभी वैराग्य-सा आता है तो कभी आसक्ति बढ़ जाती है। भजनमें कभी सुख-सा दीखता है तो कभी चित्त ऊबने लगता है। कभी भगवान्‌में श्रद्धा और विश्वास बढ़ते-से दीखते हैं तो कभी भगवान्‌की उपेक्षा होकर भोगोंकी अपेक्षा हो जाती है। यों ज्वार-भाटा आता रहता है; पर यदि मनुष्य सत्संगका सहारा पकड़े रहता है तो भजन छूटता नहीं और भजनकी स्वाभाविक महिमा अन्तमें सारी उधेड़-बुनको मिटाकर भजनको निष्ठापूर्ण बना देती है। फिर तो भजनमें रुचि, सुख, रस और प्रीतिका इतना विस्तार हो जाता है कि छोड़नेपर भी भजन नहीं छूट सकता।

३५—जैसे भी हो, उत्साह-अनुत्साह, आशा-निराशा, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूल परिणाम और विपरीत परिणामकी परवा न करके भजन करते ही रहो!

३६—भक्तिपथमें पाँच बड़े काँटे हैं—इनसे बचो और इन्हें उखाड़ फेंकनेका जतन करो—

**जातिविद्यामहत्त्वं च रूपं यौवनमेव च।**
**यत्नेन परिहर्तव्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥**

'ऊँची जातिका अभिमान, विद्याका घमंड, धन, ऐश्वर्य और पदगौरवका महत्त्व, शरीरका सौन्दर्य और उछलती जवानी! यही पाँच काँटे हैं।'

३७—नित्य भगवान्का गुणगान करो—नहीं तो तुम्हारी जीभ मेढककी जीभ है ।

३८—नित्य भगवान्के गुणगणोंका श्रवण करो । काले बादलोंसे घिरा हुआ दिन दुर्दिन नहीं है । दुर्दिन तो वस्तुतः वह है, जिसमें तुम्हारे कान भगवान्की गुणसुधाके अनवरत पानसे वञ्चित रहते हैं—

**यदच्युतकथालापकर्णपीयूषवर्जितम् ।**
**तद् दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम् ॥**

प्राण-प्रयाणके पाथेय, संसार-रोगकी अचूक औषध और र
शोकका हरण करनेवाले तो बस, हरिनामके दो अक्षर ही हैं

**प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम् ।**
**रोगशोकहरं पुंसां हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥**

३९—किसीकी निन्दा न करो, न कर्कश वाक्य ही बे
सम्मान, सत्य, प्रेम और हितकी बात ही कहो । सभी लोग तुम्हारी न
और अपना सम्मान तथा हित चाहते हैं ।

४०—किसीकी खुशामद मत करो । खुशामदीके मुँह
मनमें सदा ही भेद रहता है । फूट तो उसका साथी बन जाता

४१—स्पष्टवादी बननेके बहाने किसीका जी दुखानेवाले
कभी मुँहसे मत निकालो ।

४२—सुख-दुःख दोनों ही क्षणभङ्गुर हैं । इनके मोहमें
फँसो । चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नासे सुशोभित आकाश और
घटाओंसे घिरा हुआ नभोमण्डल, दोनों ही क्षणिक हैं ।

४३—दिन सदा एक-से नहीं जाते, उतार-चढ़ाव जग
स्वभाव ही है ।

४४—कर्मोंका स्वभाव ही है स्वाँग बदलते रहना ! स्वाँगके सार ही तो क्रिया होगी न ?

४५—प्रशंसाके लिये मत तरसो, खुशामदसे प्रसन्न मत होओ। मद चाहनेवालेका सौभाग्य शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

४६—सरल बनो, कपटकी बात छोड़ दो; जीवनमें सीधापन । संतोष धारण करो। याद रक्खो, भगवान्‌को सरलता और संतोष प्रिय हैं।

४७—अच्छी हालतके बन्धुका विश्वास मत करो। धन-मानकी तो सभी जुट जाते हैं। विपद्‌का बन्धु ही सच्चा बन्धु है।

४८—तुम्हारे पास भगवान्‌की दयासे जो कुछ है, उसीपर संतोष 'देख पराई चोपड़ी मत ललचावे जीव।'

४९—लोगोंको कुछ भी कहने दो, वे तो कहेंगे ही। अपने से कभी पैर मत हटाओ !

५०—जब संसारी लोग तुम्हें भाग्यवान् और भगवान्‌का कृपापात्र ं, तब चौकन्ने हो जाओ। संसारी लोग अपनी बुद्धिके काँटेपर ही तो और भगवान्‌की कृपाको तौलते हैं ! उनका काँटा पत्थर तौलता ा नहीं। वे भोगीको भाग्यवान् और भगवान्‌का कृपापात्र मानते विषय-विरागी भगवदनुरागीको अभागा तथा भगवान्‌का कोप- !

५१—बुरा कर्म करनेवाला ही गुप्त पथपर चलता है, अपने । छिपानेकी चेष्टा करता है।

५२—अपनेको न नीच समझो और न सबसे ऊँचा ! चुपचाप राह चलते रहो।

५३—किसीकी सेवा करके उसे गिनाओ मत। नहीं तो तुम्हारा

सेवा राखमें घी डालनेके समान व्यर्थ ही जायगी और सेव्य भगवान् तुमसे छिप जायँगे ।

५४—जो नहीं मिलनेका, ऐसे आकाशकुसुमकी आशा मत करो । साध्यकी ही साधना सहज हितकारी होती है ।

५५—कीर्ति कभी दीर्घकालतक नहीं ठहरती । सम्मानका बोझ भी ऐसा ही है ।

५६—कीर्ति और सम्मानपर काले धब्बे लगते ही हैं । चन्द्रमामें भी कलङ्क होता है ।

५७—इसलिये कीर्ति-कथा सुनकर घमण्ड मत करो और निन्दा सुनकर घबराओ मत ।

५८—जो देता है, वही लेता है । चीज उसीकी रहती है । फिर मिलनेपर फूलना और जानेपर रोना दोनों ही प्रमाद हैं ।

५९—धरा और धनकी सुन्दरतापर मत रीझो, शरीर और रूपके लावण्यके लिये मत ललचाओ । इस प्रापञ्चिक झूठी सुन्दरता और लावण्यके परे एक ऐसा नित्य सत्य अनन्त सौन्दर्य और लावण्य है, जो सदा चेतन रहता है । वह है श्रीकृष्णकी शोभा । उसीपर रीझो और उसीके लिये सदा ललचाओ ।

६०—अज्ञानी मनुष्य ही अभिमानका गुलाम है; बुद्धिमान् तो विनयी होता है ।

६१—अहंकार प्रचण्ड निदाघका मध्याह्न है और विनय वसन्तकी संध्या !

६२—जो कुछ करना चाहते हो, पहलेसे ही उसका ढिंढोरा मत पीटो ! काम होनेपर आप ही सब जान जायँगे ।

६३—जिसके कार्यसे हरि संतुष्ट होते हैं, असलमें वही सत्

कर्मी है ।

६४—तुमने जो कुछ शुभ किया है, उसे भगवान्‌ने देखा है; फिर अपने मुँहसे उसकी बड़ाई क्यों बघारते हो ।

६५—सुख चाहते हो तो दूसरोंको सुख दो और दुःख चाह हो तो दुःखका दान करो । जो दोगे, वही अनन्तगुना होकर तु वापस मिल जायगा ।

६६—रोग-वियोगसे घबराओ मत । सभी लीलाओंमें प्रियतम प्रभु मधुर हँसीका दर्शन करो और सदा सुखी रहो !

६७—ऐसा मत मानो कि मैं अपनी साधनासे—अपने परिश्र पुरुषार्थके बलसे संसार-सागरसे तर जाऊँगा । इस प्रकारकी धारण अभिमानका बड़ा भय है । भगवान्‌की असीम अनुकम्पापर विश्व रक्खो, उनका आश्रय ग्रहण करो और साधन-भजन उन्हींकी प्रीति लिये करो । फिर कोई शङ्का या भय नहीं है ।

६८—जिस साधकमें अभिमान है—अपनेमें उच्चबुद्धि और दूसरों प्रति नीचबुद्धि है, वह साधक नहीं है । पर एक पापी, जो पाप छुटकारा पानेके लिये छटपटाता है और प्रतिक्षण भगवान्‌से प्रार्थ करता है, सच्चा साधक है ।

६९—पापसे मुक्त होनेका साधन है—तीव्र अनुताप । यह अनुत ही भगवत्-साधनका पूर्वरूप है । अनुताप हुए बिना असली साधन का उदय नहीं होता ।

७०—भगवान् नित्य कल्याणमय और कृपामय हैं । वे अपनी सह करुणासे—स्वभावसुलभ विरदसे चाहे जिसको, चाहे जब, चाहे जै महत्त्व और विशेषत्व प्रदान कर देते हैं । 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु ।'

७१—ऐसा करनेमें कोई हेतु नहीं है। उनकी स्वरूपभूता कृपा और कल्याणमयतासे अपने-आप ही ऐसा हुआ करता है।

७२—किसी दूसरेका न तो दोष देखो, न कभी किसीकी निन्दा करो। संसारमें निर्दोष कौन है! पहले यह देखो कि तुम्हारे अंदर कोई दोष है या नहीं। यदि है तो पहले उससे घृणा करो, उसके लिये अनुताप करो।

७३—दूसरेको सुधारनेकी चिन्ता मत करो, अपनेको सुधारो। जब तुम निर्दोष हो जाओगे, तब सारा जगत् ही तुमको निर्दोष दीखने लगेगा।

७४—पर-दोष देखनेकी आदत पड़ जानेपर सर्वथा निर्दोषमें भी दोष दीखने लगते हैं। असलमें वह अपने दोषोंकी ही छायामूर्ति है।

७५—आनन्द और शान्ति ही जीवन है और निरानन्द तथा अशान्ति ही मृत्यु है। जीवनको अपनाओ, मृत्युको नहीं।

७६—आनन्द और शान्ति प्रेमसे मिलते हैं, द्वेषसे नहीं। प्रेम पवित्र, मधुर, नित्य, प्रतिक्षण वर्धमान और आनन्दमय है। प्रेम ही जीवनका सच्चा जीवन है। जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है।

७७—सत् और चित्के साथ ही आनन्दका संयोग है। सच्चिदानन्द हैं भगवान्। इसीलिये भगवान् ही आनन्दनिकेतन और आनन्दस्वरूप हैं।

७८—सच्चा साधु वही है, जिसके मनमें भगवच्चिन्ताके सिवा अन्य कोई चिन्ता कभी आती ही नहीं।

७९—बाहरका एकान्त सच्चा एकान्त नहीं है। मनकी संकल्प-शून्यता ही एकान्त है।

८०—जीभका मौन ही सच्चा मौन नहीं है। मनको मौनी बनाओ, वही सच्चा मौन है।

८१—मनका मौन है—जगत्-चिन्तनका सर्वथा अभाव और भगवान्‌का नित्य मनन।

८२—मनुष्यमें ऐसा कोई भी गुरुत्व नहीं है, जिसके लिये वह गौरव करे। गौरव करनेकी कोई बात है तो वह भगवान्‌के गौरवसे ही है।

८३—जबतक मनुष्य अपने मिथ्या गौरवका त्याग नहीं करता, तबतक उसमें सच्चे गौरवकी कोई बात आती ही नहीं।

८४—भगवान् ही जीवमात्रमें स्थित हैं, भगवान् ही सबके अधिष्ठान हैं, भगवान् ही सबके आत्मा हैं—यह समझकर भगवान्‌की सेवाके भावसे जो जीवोंकी सेवा करता है, उसका प्रत्येक कार्य भगवद्भजन ही है।

८५—सेवक किस बातका और कैसे अभिमान करे। वह तो स्वामीके संकेतपर, स्वामीकी शक्तिसे ही नाचता है।

८६—जो सच्चा सेवक है, वह जिधर देखता है, उधर ही उसे अपने करुणामय स्वामीका मुसकराता हुआ मुखड़ा दीखता है।

८७—सेवकका कार्य है—नम्रता और विनयके साथ स्वामीकी सेवा करना। जब घट-घटमें उसे अपने स्वामीके ही दर्शन होते हैं, तब वह नम्रता और विनयका त्याग करके अभिमान कैसे करे?

८८—सेवक तो सदा यही चाहता है कि मैं नरम-नरम धूलि-कण ही बना रहूँ, जिससे स्वामीका चरणस्पर्श सदा मिलता रहे। इसीमें सेवकका गौरव है।

८९—जो अपनेको सेवक भी मानता है और अभिमान भी करता है, वह सेवक नहीं—ठगाया हुआ है।

९०—साधनाकी जड़ है—विश्वास और श्रद्धा। जिसमें विश्वास और श्रद्धा नहीं है, वह महापुरुषोंका अनुकरण करने जाकर भी कोरा ही रहता है।

९१—विश्वास और श्रद्धा ही अप्रकट भगवान्‌को प्रकट करवाते हैं। प्रह्लादके अटल विश्वासने ही भगवान् नृसिंहदेवको खंभेसे प्रकट किया था।

९२—विश्वाससे साक्षात्कार, विनयसे उन्नति, सत्यसे समता, प्रेमसे आनन्द, धैर्यसे शान्ति, वैराग्यसे ज्ञान, समर्पणसे भक्ति और निर्भरतासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है।

९३—भगवान्‌में विश्वास न करनेवाले, मिथ्यावादी, कृपण और निर्दय—इन चारोंका सङ्ग महान् अनिष्टकी उत्पत्ति करता है।

९४—मौतको सोते समय सिरहाने और जागते समय सामने समझकर काम करो।

९५—मौतसे डरो मत; परंतु वह तुम्हारा आलिङ्गन करे, इससे पहले-पहले ही अपने कामको पूरा कर लो।

९६—छोटे-से-छोटे पापके प्रति भी ध्यान रक्खो और उसे निकालनेकी चेष्टा करो। पापको सहना और उसपर दया करना बड़ा पाप है।

९७—पापका बीज ही बुरा है। बीज रहेगा तो अनुकूल अवसर पाकर अंकुर निकलेगा ही।

९८—बस, तुम तो भगवान्‌के बन जाओ। और कुछ भी न करो। भगवान्‌को छोड़कर कुछ भी करने जाना अपनेको विपत्ति-जालमें फँसाना है।

९९—काम आरम्भ करते ही उसके फलके लिये चिन्ता

होओ। बीज डालते रहो, समयपर अंकुर प्रकट होगा ही।

१००—कर्मसे भावका पद ऊँचा है। भाव पवित्र होनेपर तुच्छ-से-तुच्छ कर्म भी महान् बन जाता है।

१०१—तुम्हारी जैसी कामना होगी, वैसे ही कर्म होंगे और कर्मानुसार ही उनका फल भी मिलेगा।

१०२—तुम्हारी इच्छा यदि शुभ है तो भगवान् उसका फल शुभ देंगे ही—यह निर्भ्रान्त सत्य है।

१०३—भगवान्‌का साक्षात्कार ही चरम और परम शुभ है।

१०४—भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम और भगवत्-बोधकी कामना वस्तुतः कामना नहीं है।

१०५—अपने सारे कार्य भगवान्‌की सेवा समझकर करते रहो। फिर परम सत्यस्वरूप भगवत्-प्रकाशकी निर्मल ज्योतिसे तुम्हारा हृदय चमक उठेगा। तुम्हारी किसी चेष्टाके बिना ही, तुम्हारे अनजानमें ही तुम्हारा ज्ञान सत्यके प्रकाशसे प्रकाशित हो जायगा।

१०६—भक्ति और सेवामें आडम्बर व्यर्थ है। जहाँ निर्बाध और सम्पूर्ण आत्मनिवेदन नहीं है, वहाँ सेवाके निर्मल स्वरूपका प्रकाश नहीं होता। वहाँ तो बाहरी दिखावा ही रहेगा।

१०७—तुम जिसकी सेवा करना चाहते हो, तुम्हारा मन तो पड़ा रहेगा सदा उसके पास। फिर बिना मनके आडम्बर कैसे बनेगा।

१०८—किसी कामनासे भगवान्‌में प्रेम करना असली प्रेम नहीं है। वे तुम्हारे हैं, तुम उनके हो। 'प्रेम क्यों करते हो?' 'इसलिये कि रहा नहीं जाता।' 'कोई कारण भी होगा?' 'कारणका पता नहीं।' बस, यही असली प्रेम है।

## ( षष्ठ माला )

१—जहाँ प्रेम प्रेमके लिये ही होता है—बिना किये ही होता है, किसी चाहकी जहाँ कल्पना भी नहीं है, वहीं निर्मल अहेतुक प्रेम प्रकट होता है।

२—यथार्थ सुन्दर और मधुर वही है, जो सत् है, चेतन है, आनन्दरूप है, नित्य है, निर्मल है, निरतिशय है।

३—मन जब सारे असत्-प्रपञ्चोंसे हटकर इस 'सुन्दर'के लिये छटपटाता है, तब उसके सामने उस अव्यक्त नित्य सुन्दर, नित्य मधुरका तुरंत प्रादुर्भाव हो जाता है।

४—वह है सभी जगहपर छिपा हुआ। प्रेमभरी व्याकुलता ही उसे प्रकट करनेमें समर्थ है।

५—भगवान्‌को प्राप्त करनेका सबसे सरल साधन है—तीव्र व्याकुलता। उसके लिये हमारे प्राण जितना ही अधिक करुण-क्रन्दन करेंगे, उतना ही वह हमारे समीप आयेगा।

६—हमारा काम है, एकमात्र कर्तव्य है—व्याकुल-हृदयसे नित्य उनका स्मरण करना, उन्हें पुकारना।

७—भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी व्याकुल हृदयकी करुण पुकार सहनेमें असमर्थ हो जाते हैं और बाध्य होकर उन्हें प्रकट होना ही पड़ता है। भूमितलमें भगवान्‌के अवतारका यही प्रधान कारण है।

८—प्रायश्चित्त, तप, दान, व्रत आदि जितने भी पापनाशक साधन हैं—श्रीकृष्णका स्मरण सबसे श्रेष्ठ है। श्रीहरिके एक बारके स्मरणमात्रसे ही सारे पाप-ताप, सारी नरक-यन्त्रणाएँ निर्मूल हो जाती हैं

९—कर्मणा मनसा वाचा यः कृतः पापसञ्चयः।
सोऽप्यशेषः क्षयं याति स्मृत्वा कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजम्॥

'कर्म, मन और वाणीसे किये हुए समस्त पापोंका संचय श्रीकृष्ण-चरण-कमलोंका स्मरण करते ही अशेष रूपसे क्षय हो जाता है।'

१०—कलिकालकुसर्पस्य तीक्ष्णदंष्ट्रस्य मा भयम्।
गोविन्दनामदावेन दग्धो यास्यति भस्मताम्॥

'कलिकालरूपी तीखी दाढ़ोंवाले कराल सर्पका कुछ भी भय मत करो। गोविन्दनामरूपी दावानलसे दग्ध होकर वह राखका ढेर हो जायगा।'

११—जगत्में अध्ययन और उपदेश करना सहज है। बड़ा कठिन है भागवत-जीवन बनाना।

१२—चुपचाप भगवदनुकूल आचरण करनेसे ही भागवत-जीवन सम्पन्न होता है। अनुकूल आचरणमें उनकी अहैतुकी कृपाका आश्रय करना चाहिये।

१३—वह मनुष्य अपनेको धोखा देता है, जो यह कहता है कि मुझे भगवान्‌को पुकारने या भगवान्‌का नाम लेनेके लिये समय नहीं मिलता। भगवान्‌को पुकारनेके लिये किसी बाहरी आडम्बरकी आवश्यकता नहीं है, किसी भी स्थितिमें किसी भी समय संसारका कोई-सा भी काम करता हुआ मनुष्य भगवान्‌को पुकार सकता है और भगवान्‌का नाम ले सकता है।

१४—शरीर उस सूखे पत्तेके समान है, जो हवाके झोंकेसे इधर-उधर उड़ता रहता है और आत्मा उस वृक्षके समान है, जो सदा साक्षीकी भाँति पत्तेका उड़ना देखता है। अतएव आत्मनिष्ठ महात्मा पुरुष प्रारब्धवश संयोग-वियोगके चक्करमें भटकनेवाले शरीरके द्रष्टा रहकर परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। न शरीरके रहनेमें उन्हें स्पृहा है और न उसके नष्ट होनेमें उन्हें दुःख है।

१५—यद्यपि ब्रह्मज्ञान बाह्य आचरणोंमें बँधा नहीं है, तथापि अपने समझनेके लिये तो यह सच्ची कसौटी है कि मन विषयोंमें लिप्त होकर उसकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी-दुखी होता है या नहीं। यदि होता है तो हम जिस ज्ञान ( समझ ) के आधारपर अपनेको ब्रह्मज्ञानी कहते हैं, वह ज्ञान यथार्थ ब्रह्मज्ञान नहीं है। ब्रह्मज्ञानी वही है, जिसकी नित्य अखण्ड ब्रह्मरूपतामें अभिन्न स्थिति है। उसका मन प्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और अप्रियकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होता।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।<br>
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

( गीता ५। २० )

१६—जहाँ धर्मका सहारा लेकर स्वार्थ अपना साम्राज्य विस्तार कर बैठता है, वहाँ निर्दयता, बर्बरता, हिंसा, विनाश और मानवचरित्र तथा मानव-सभ्यतापर अमिट कलंक लगना अवश्यम्भावी है।

१७—धर्मके नामपर होनेवाली स्वार्थकी क्रियासे धर्मकी जितनी हानि होती है, उतनी प्रत्यक्ष अधर्माचरणसे नहीं होती।

१८—महापुरुषोंके प्रति जबतक श्रद्धा-विश्वासका उदय न होता, तबतक भगवत्तत्त्व-प्राप्तिकी कामना और आशा कभी पू नहीं हो सकती।

१९—भोगासक्तिपर विजय भगवत्प्रीतिसे ही मिल सकती है भगवत्प्रेम ही ऐसा अचूक अस्त्र है, जिससे काम, क्रोध, लोभ आदि अज्ञानके सारे परिवारका नाश हो सकता है।

२०—जगत्‌के समस्त प्राणियोंमें भगवान् सदा-सर्वदा समभावसे विराजित हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर मनुष्य, पशु, पक्षी—सभी प्राणियोंमें भगवान्‌को देखकर मन-ही-मन उन्हें नमस्कार करना चाहिये।

२१—नाटकमें यदि हमारे पिता या हमारे कोई प्रिय मित्र राक्षस, भूत या सिंह-बाघके वेषमें आते हैं, तो उन्हें पहचान लेनेपर हम जैसे उनसे न तो डरते हैं और न द्वेष करते हैं, ऐसे ही भगवान्‌को जब समस्त रूपोंमें हम पहचान लेते हैं, तब किसी रूपसे न हमें द्वेष रहता है, न भय और न घृणा ही।

२२—सुख-दुःखादि द्वन्द्व अन्तःकरणके विकार हैं; जबतक प्रकृति-के साथ आत्माका कल्पित सम्बन्ध रहता है, तबतक ही ये आत्मामें दिखायी देते हैं। स्वरूपतः आत्मामें सुख-दुःखादि हैं ही नहीं।

२३—यदि हृदयमें निर्मल प्रेम नहीं है तो समझना चाहिये कि अभी सच्ची साधुताका विकास नहीं है; क्योंकि जहाँ प्रेम नहीं होता, वहाँ गंदा स्वार्थ रहता है और जहाँ स्वार्थ है, वहाँ न है त्याग, न है ऊँची साधना और न है विषयासक्तिका अभाव। प्रेमहीन मनुष्यका जीवन घोर विषयी जीवन है, वह सर्वथा मरुभूमिके सदृश शुष्क और उत्तप्त है।

इच्छानुसार नहीं चलता, बल्कि इन्हें अपने इच्छानुसार चलाता है, सच्चा स्वतन्त्र और स्वामी तो वही है।

३०—भगवान् यदि कभी दण्ड दें तो भी उनका उपकार ही मानो, क्योंकि वे जो कुछ भी देते हैं, सब हमारे कल्याणके लिये ही देते हैं। माकी मारमें भी प्यार भरा रहता है।

३१—मनुष्य यदि उस कल्याणमय प्रभुके असाधारण दानकी ओर गहराईसे देख पाता है तो उसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि प्रभुका छोटे-से-छोटा और अमङ्गलमय दीखनेवाला दान भी महान् मङ्गलसे भरा है।

३२—भगवान्‌की कृपावृष्टि सीधी उन्हींपर होती है, जो अपनी ओरसे कोई माँग रखकर उसमें बाधा नहीं देते।

३३—जो बीत गया है, उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है, इसी प्रकार भविष्यके लिये भी चिन्ता करनेमें कोई लाभ नहीं। वर्तमान तुम्हारे हाथमें है, इसे सुधारो। जिसका वर्तमान सुधर गया, उसका भविष्य आप ही सुधर जायगा।

३४—सच्चा पश्चात्ताप वही है, जो फिर वैसा कर्म न होने दे। वह पश्चात्ताप व्यर्थ है, जिससे कुकर्मका प्रवाह रुके नहीं।

३५—संसारमें सभी कुछ परिवर्तनशील और क्षणभङ्गुर है। मानो परिवर्तन और क्षण-विनाशकी अनवरत धारा बह रही है। इस अनित्य परिवर्तनशील और क्षणविनाशी जगत्‌के पीछे एक नित्य अपरिवर्तनशील परम वस्तुकी सत्ता है। इस देश-काल-वस्तु-परिच्छिन्न खण्ड-खण्ड विविध ज्ञानराशिके पीछे एक अखण्ड देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित नित्य

अभेद ज्ञान वर्तमान है। बस, वह नित्य प्रकाशरूप ज्ञान ही अविनाशी सत्य है और वही इस समस्त जगत्-प्रपञ्चका नित्य अधिष्ठान है। वह सब समय सबमें समान भावसे अनुस्यूत है। जगत्के समस्त जीव, संसारके समस्त पदार्थ उसी नित्य सत्य परम वस्तुमें परिकल्पित हैं। समस्त विचित्र विभिन्नताएँ उस एक नित्य चिन्मय सत्ताकी ही प्रकाश-किरणें हैं।

३६—किसी पापका सच्चा प्रायश्चित्त तब होता है, जब १. उसके लिये मनमें भयानक पीड़ा—घोर पश्चात्ताप हो, २. भविष्यमें वैसा न करनेका दृढ़ निश्चय हो, ३. अपने पापको प्रकट करके नीचातिनीच कहलाने और सम्मान करनेवाले लोगोंके द्वारा भी तिरस्कृत होनेका साहस हो, ४. पापके फलस्वरूप किसी भी दण्डके सहनेमें प्रसन्नता हो और ५. श्रीभगवान्से यह कातर प्रार्थना हो कि उनकी कृपासे फिर कभी ऐसा कुकर्म बने ही नहीं।

३७—क्रोध जिसको आता है, उसको पहले जलाता है और जिसपर आता है, उसको पीछे। क्रोध आनेपर यदि मनुष्य चुप रह जाय तो अंदर-अंदर उसे जलाकर क्रोध भी जल जाता है, पर यदि क्रोधके वशमें होकर शरीर या वचनसे कोई क्रिया हो जाय तो फिर वह दूसरोंको भी जलाता है और आगकी तरह चारों ओर फैलकर तमाम वातावरणको संतापसे भर देता है। फिर वह गरमी सहज ही शान्त भी नहीं होती।

३८—क्रोधमें जब जबान खुलती है, तब विवेककी आँखें मुँद जाती हैं। उस समय ऐसी बातें मुँहसे निकल जाती हैं, जिनके लिये

केवल इसी जीवनमें नहीं, कई जन्मोंतक पश्चात्ताप करना पड़ता है

३९–वही सच्चा शूर है, जो मनके क्रोधको मनमें ही मार डाले बाहर प्रकट होने न दे। और वह तो सर्वविजयी है, जिसके मनमें भी क्रोध उत्पन्न न होता हो।

४०–कामकी कुक्रिया एकान्तमें होती है, अतः बुद्धिमान् पुरुषों-को एकान्तकी कामोत्तेजक परिस्थितिसे सदा बचना चाहिये। अर्थात् एकान्तमें किसी भी पुरुषसे स्त्रीको और किसी भी स्त्रीसे पुरुषको नहीं मिलना चाहिये।

४१–मनुष्य कितना धोखा खा रहा है। अपना सुधार करना अपने हाथ है, उसको नहीं करता और अपनेको परिस्थितिके वश मानकर अपने दोषोंका समर्थन करता है, पर दूसरेका सुधार करनेके लिये प्रयत्न करता है, जो उसके हाथमें नहीं है।

४२–जिसका जीवन जितना ही आडम्बर और विलाससे युक्त है, जिसकी रहन-सहन जितनी ही व्यर्थके शौकोंसे भरी है, उसका जीवन उतना ही अधिक अभावयुक्त, धनकी दासता तथा धनके लिये अन्यायका आश्रय लेनेवाला, अशान्त और दुखी है। ऐसे मनुष्यके लिये सबसे अधिक हानिकी बात यह है कि वह धनियोंका मुखापेक्षी, धनियोंका पदानुगामी, धनियोंका गुलाम, धनियोंके दोषोंका समर्थक और धनियोंके बुरे आचरणोंका अनुसरण करनेवाला बनकर शीघ्र ही पतित हो जाता है।

४३–जिसका जीवन जितना ही सीधा-सादा, कम खर्चीला और संतोषयुक्त है, वह उतना ही अभावहीन, स्वावलम्बी, न्यायप्रिय, शान्त, सुखी और निष्पाप है।

४४–किसीको नीचा दिखाकर या किसीकी निन्दा करके अपना गौरव बढ़ानेका प्रयास करना बहुत बड़ी मूर्खता और नीचता है ।

४५–संसारमें ऐसा कोई नहीं है, जिसमें दोष-ही-दोष हों । खोजनेपर निकृष्ट-से-निकृष्ट वस्तुमें भी अद्भुत गुण मिल सकते हैं । गुण देखनेवाली आँखें चाहिये ।

४६–दोष देखनेवाला सदा घाटेमें रहता है । दिन-रात दोष-दर्शन और दोष-चिन्तनसे उसके अंदरके दोष पुष्ट होते और नये-नये दोष आ-आकर अपना घर करते रहते हैं । फलतः उसका जीवन दोषमय बन जाता है ।

४७–जो सबमें दोष देखता है, उसकी गुण ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है और दोष ग्रहण करनेकी शक्ति बढ़ जाती है । वह जहाँ-तहाँसे दोषोंका ही आकर्षण, ग्रहण और संग्रह करता है ।

४८–वाणीके कथनकी अपेक्षा मनके दृढ़ विचार और विचारकी अपेक्षा वैसा ही आचरण कहीं ऊँचा है । वह विचार किस कामका, जो आचरणमें न परिणत हो ।

४९–शुद्ध आचरण ही यथार्थ आचार है और शुद्ध भाव ही यथार्थ विचार है । इसी आचार-विचारको अपनाना चाहिये ।

५०–जिसमें अपना और दूसरोंका परिणाममें कल्याण हो, ऐसा भाव शुद्ध विचार है, ऐसा आचरण शुद्ध आचार है ।

५१–किसी दूसरेके आचरणकी मीमांसा करते समय पहले अपनेको उसकी उस परिस्थितिमें ले जाना चाहिये, जिसमें पड़कर उसने वह आचरण किया था; तभी यथार्थ मीमांसा और निर्णय हो सकेगा ।

५२—जो मनुष्य अपने सुख-दुःखको गौण समझकर दूसरोंके सुख-दुःखको मुख्य समझता है, वही दूसरोंको दुःख पहुँचानेसे बच सकता है और वही दूसरोंको सुख भी पहुँचा सकता है। जिसकी दृष्टिमें अपना दुःख-सुख ही सब कुछ है, वह दूसरोंके सुख-दुःखकी परवा क्यों करने लगा।

५३—आत्मवत् व्यवहार वाणीसे नहीं होता, आचरणसे होता है और उसका यथार्थ सम्बन्ध मनसे है। जिसके मनमें आत्मीयता है, वही सच्चा आत्मीय है।

५४—जो मनुष्य अपनी अलग कोई इच्छा नहीं रखता, मङ्गलमय भगवान्‌की इच्छाके प्रवाहमें ही अपनेको बहा देता है, वही संसार-सागरमें डूबनेसे बचता है। जो मङ्गलमय भगवान्‌की इच्छाके विपरीत चलता है, उसे तो विपत्तियोंका शिकार बनना ही पड़ता है। नदीके बहावके अनुकूल साथ बहे चले जानेपर कहीं किनारे लग जाओगे; पर बहावके प्रतिकूल चले तो क्रमशः थककर डूबना ही पड़ेगा।

५५—भगवान्‌को निवेदन कर देनेपर विष भी अमृत बन जाता है। प्रह्लाद और मीराको दिया हुआ प्राकृत विष इसीसे अमृत बन गया था। हम भी यदि संसाररूपी यह हलाहल जहर भगवान्‌के अर्पण कर दें तो यह भी अमृत बन जायगा। फिर संसारके भोग हमें मृत्युके मुखमें न ले जाकर अमृतत्वकी प्राप्ति करानेवाले ही होंगे।

**गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥**

५६—पूर्ण परात्पर भगवान्‌की ह्लादिनी अथवा आनन्दमयी शक्तिकी दिव्य पूर्ण परिणति ही श्रीराधा हैं और श्रीराधाकी अङ्ग

कान्ति या कायव्यूहरूप शक्तियाँ—जो निरन्तर श्रीराधाकृष्णके अप्राकृत मिलनके प्रयत्नमें लगी हुई नित्य-नवीन भावविकास करती रहती हैं, श्रीगोपाङ्गना हैं। श्रीराधा महाभावस्वरूपिणी हैं और श्रीकृष्ण रसराजशिरोमणि। श्रीराधा शक्ति हैं और श्रीकृष्ण शक्तिमान्। एक ही परमतत्त्व लीलाविलासके लिये दो दिव्य रूपोंमें प्रकट है।

५७—भोगोंसे भोगकामनाकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अग्निमें घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही भोगोंकी वृद्धि-से भोगकामना बढ़ती है।

**'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।'**

५८—भोगकामना जन्मसे लेकर मृत्युकालतक मनुष्यके पीछे लगी रहती है और बिच्छूके डंक मारनेकी भाँति निरन्तर उसे पीड़ित करती रहती है।

५९—भोग-कामनासे छूटना हो तो भोगोंकी वृद्धिके फेरमें न पड़कर भोगोंका तिरस्कार करना चाहिये।

६०—कर्म, ज्ञान और भक्तिमें वस्तुतः विरोध नहीं है। प्रधानता और गौणताके भेदसे इनमें भेदकी प्रतीति होती है। वस्तुतः ये एक दूसरेके सहायक हैं और इनमें एकके बिना दूसरेका सर्वाङ्ग-सम्पन्न होना कठिन हो जाता है।

६१—भोग-संस्पर्शसे प्राप्त होनेवाला इन्द्रियसुख आगमापायी है और दुःखोत्पादक है। सच्चा सुख तो ब्रह्मसंस्पर्शमें है। जो भक्त निर्मल और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करता है, वह धन्य है और वह तो परम धन्य है, जिसकी बुद्धि ही नहीं, मन ही

नहीं—नेत्र, श्रोत्र, नासिका आदि प्रत्येक इन्द्रिय, शरीरका एक-ए रोम ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाता है। इसीसे गोपाङ्गना साधक-जगत्‌में सर्वशिरोमणि हैं। क्योंकि उनका प्रत्येक अङ्ग दि० भगवत्-संस्पर्शसे धन्य हो चुका है।

६२—मनको पवित्र और संयत करनेका एक बड़ा सुन्द और सफल साधन है—सत्सङ्गमें रहकर निरन्तर भगवान्‌की अतुल- नीय महिमा और पवित्र लीला-कथाओंका सुनना और फिर उनका भलीभाँति मनन करते रहना।

६३—भगवान्‌की महिमा और लीला-कथाओंके सुनते रहनेसे हृदयके सारे पाप धुलकर वह निर्मल हो जाता है। पाषाणहृदयकी कठोरता भी गल जाती है और असाधु स्वभावमें विलक्षण परिवर्तन होकर सच्ची साधुता आ जाती है।

६४—भगवान्‌का मङ्गलमय मधुर गुणगान सुनते और करते समय जिसका चित्त तदाकार हो जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है, गला भर आता है और नेत्रोंसे शीतल जलकी धारा बहने लगती है, वही पुरुष धन्य है।

६५—सच्चा ज्ञान तो वही है, जो आचरणमें उतर आया हो। नहीं तो, ग्रन्थोंके रट लेनेसे क्या होता है। गधा चन्दनका भार ढोता है, पर उसे उसके महत्त्वका कुछ भी पता नहीं होता।

६६—जगत्‌का नाम-रूप बन्धनकारक और भगवान्‌का नाम-रूप मुक्तिदायक है। वह यदि बन्धनकारक है तो इसी अर्थमें कि उससे अपने नाम-रूपके प्रेमी भक्तके प्रेम-बन्धनमें भगवान् स्वयं बँध जाते हैं।

जिन बाँध्यो सुर-असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

६७– यह कभी मत समझो कि तुम जबतक शुद्ध नहीं हो जाओगे, तबतक भगवान् तुम्हें ग्रहण नहीं करेंगे। क्या माता मलभरे बच्चेके लिये यह प्रतीक्षा करती है कि वह नहाकर आवेगा तब मैं उसे छूऊँगी।

६८–जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी करुण पुकार सुनते ही दौड़ती है और उसे मलमें भरा देखकर अपने हाथों उठाकर धोती, साफ करती, नहलाती और सुन्दर वस्त्र पहनाकर हृदयसे लगा लेती है, वैसे ही अनन्त स्नेह-सुधा-समुद्र भगवान् भी तुम्हें अपने हाथों विशुद्ध बनाकर हृदयसे लगानेको तैयार हैं। बस, निर्भरतायुक्त अनन्य पुकारकी आवश्यकता है।

६९–जिसने अपना सारा कारोबार किसीको दान कर दिया, उसे कारोबारका देन-लेन साफ नहीं करना पड़ेगा। उसे तो वही साफ करेगा, जिसने कारोबार लिया है। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करनेपर हमारे अंदरके पाप-तापोंको स्वयं भगवान् ही दूर कर देंगे।

७०–अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा था कि 'तू सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तू चिन्ता मत कर।' इससे सिद्ध है कि शरणमें आनेके पहले सर्वथा निष्पाप हो जाना अनिवार्य नहीं है। पाप तो शरणमें आनेपर वैसे ही कट जाते हैं, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकारका नाश सहज ही हो जाता है।

७१—दूसरोंकी उन्नति और सुख-सम्पत्ति न देख सकना बहुत बड़ा दोष है। इसमें महान् नीच वृत्ति और चरम सीमाका स्वार्थ भरा होता है। वह भाग्यवान् पुरुष है, जो दूसरोंकी सुख-सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होता है।

७२—अपनी न्यायकी थोड़ी कमाईपर भी प्रसन्न होना चाहिये और दूसरेकी कभी आशा नहीं करनी चाहिये।

७३—अपनेको किसी भी क्षेत्रमें बड़ा दिखलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो बड़ा दिखलानेके फेरमें पड़ जाता है, वह वस्तुतः कभी बड़ा बन नहीं सकता।

७४—मनुष्यको सदा अपनी ही शक्तिपर भरोसा करना चाहिये, जो उसे परमात्माकी कृपासे मिली है। दूसरेका भरोसा समयपर ऐसा धोखा देता है कि फिर वहाँ मनुष्यको सर्वथा असहाय, निरुपाय और निराश हो जाना पड़ता है।

७५—सुननी चाहिये सबकी, और उनपर विचार भी करना चाहिये; परंतु करनी चाहिये वही बात, जो भगवान्‌की प्रेरणासे अपनी बुद्धिमें सर्वोत्तम लगती हो।

७६—क्रोधको वैसे ही दूर रखना चाहिये, जैसे साँप और बिच्छूको दूर फेंका जाता है। इसी प्रकार लोभको भी।

७७—दूसरेके दोषोंको खोद-खोदकर निकालना समयका दुरुपयोग करना है और साथ ही अपनी हानि भी।

७८—बुरी आदतका दृढ़ताके साथ त्याग करना चाहिये और अच्छी आदतको प्रतिज्ञापूर्वक निबाहना चाहिये।

७९–उस प्रतिज्ञाको तोड़ना धर्म है, जो बुद्धिमें पाप छा जानेपर की गयी हो और जिससे पापकी वृद्धि होती हो, जैसे व्यभिचार, हिंसा, चोरी और नास्तिकता आदिकी प्रतिज्ञा।

८०–मनुष्य अपनी बुराईका आप जिम्मेवार है। तुम उसकी बुराईको अपने माथे मढ़कर उसे फल चखानेकी चेष्टा मत करो। इससे तुम्हारे अंदर भी बुराई आ जायगी।

८१–पापीके पापसे घृणा करनी चाहिये न कि पापीसे। उससे तो प्रेम करना चाहिये और अपनेको बचाते हुए ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे वह पापसे मुक्त हो जाय।

८२–दण्ड इसलिये दिया जाता है कि मनुष्यके पापका अभ्यास छूट जाय। दण्ड देनेमें दयाका भाव होना चाहिये न कि द्वेषका। जो लोग किसीको कष्ट पाते या तबाह होते देखकर प्रसन्न होते हैं, वे दयालु नहीं हैं। वे तो द्वेषी हैं और इसलिये वे निश्चय ही पापके भागी होते हैं।

८३–किसीकी सहायता करके उस सहायताको भूल जाना चाहिये। याद रहे तो उसे वैसे ही छिपाना चाहिये, जैसे कमजोर दिलका आदमी अपना पाप छिपाता है।

८४–जो मनके सर्वथा अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके सुखी होनेका स्वप्न देखते हैं, वे कभी सुखी होंगे ही नहीं; क्योंकि संसारकी प्रत्येक परिस्थितिमें कुछ-न-कुछ प्रतिकूलता तो रहेगी ही।

८५–अपूर्ण जगत्के अपूर्ण भोगोंमें कभी कहीं भी पूर्णता नहीं मिल सकती।

८६–प्रणाली कोई भी सर्वथा पूर्ण नहीं हुआ करती। प्रणाली बनती है और जबतक उसमें खास बुराई नहीं आती, तबतक चलती

। बुराई आते ही प्रतिक्रिया होती है और प्रणाली बदल जात
—यही प्रकृतिका नियम है ।

८७–सत्य एक और पूर्ण होता है, वह कभी बदल नह
कता । सत्य सदा ही एकरस और एकरूप है ।

८८–चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, श्वासके द्वारा नाम-
का अभ्यास सभी समय किया जा सकता है और अभ्यास सिद्ध
जानेपर तो नाम-जप सदा-सर्वदा अपने आप चलता है ।

८९–साधना अधिकारी-भेदसे तीन चालोंसे चलती है—चींटी-
चाल, बंदरकी चाल और पक्षीकी चाल । चींटी धीरे-धीरे चलती
ौर अनेक बाधा-विघ्नोंका सामना करती हुई बहुत देरमें लक्ष्यतक
पाती है । बहुत दूरकी यात्रा तो उसके लिये बड़ी कठिन
है ।

बंदर एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूद जाता है और बहुत जल्दी
तै करता है; परंतु वह भी पेड़ोंमें दूरका फासला होनेपर
जाता है ।

पक्षी अविराम गतिसे उड़कर बहुत शीघ्र अपने लक्ष्य स्थानपर
जाता है ।

९०–यह नियम नहीं है कि मनुष्यमात्रको इसी जीवनमें
प्राप्त हो जायगी ।

९१–हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही इस पथपर आता है और
ोंमें भी अन्ततक अविराम गतिसे चलकर लक्ष्यतक पहुँचनेवाले
त ही थोड़े—कोई विरले ही होते हैं ।

९२—संसारके प्रलोभन इतने प्रबल होते हैं कि वे बुद्धिमान् पुरुषकी बुद्धिमें भी भ्रम पैदा करके उसे संसारमें फँसा देते हैं।

९३—सूर्यकी किरणें सभी जगह पड़ती हैं, परंतु वे किसीको भी जला नहीं सकतीं। वे ही किरणें जब आतशी शीशेपर पड़ती हैं, तब बहुत-सी एक ही केन्द्रमें इकट्ठी हो जाती हैं और उनसे ऐसी दाहिकाशक्ति प्रकट होती है, जो शीशेके उस पार रहे हुए तृण-वस्त्र आदिको जला देती है। इसी प्रकार एकाग्र मनपर जब भगवान्‌की चैतन्य ज्योतिका प्रकाश पड़ता है, तब उसमेंसे ज्ञानकी अग्नि पैदा हो जाती है, जो समस्त अज्ञानराशिको जला देती है।

९४—जैसे वृक्षकी जड़में जल सींचनेसे सारे पेड़में रस पहुँच जाता है, इसी प्रकार एक भगवान्‌की उपासनासे सबकी उपासना सम्पन्न हो जाती है।

९५—जैसे सरकारकी शक्तिसे, सरकारकी यथायोग्य शक्तिको पाये हुए अफसरोंका यथायोग्य सम्मान और आदेश-पालन सरकारकी ही सेवा है और उसे नियमानुसार करना भी आवश्यक है, वैसे ही भगवान्‌की शक्तिसे नियुक्त विभिन्न देवताओंकी भी यथास्थान पूजा करनी आवश्यक है और उससे वस्तुतः भगवान्‌की ही पूजा होती है।

९६—सच्चा सौन्दर्य मनुष्यके निर्मल और दैवीगुणसम्पन्न हृदयमें है, न कि हड्डी-चमड़ीके शरीरमें।

९७—सच्चे महात्माके दर्शनसे पाप-नाश होता ही है; परंतु यदि दर्शन करनेवाला मनुष्य श्रद्धालु होता है तो उसे प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव होता है, मानो उसके पाप सूखी घासकी तरह महात्माकी निर्मल नेत्र-ज्योतिसे ही जले जा रहे हैं।

९८–विश्वासी भक्तको किसी सच्चे महात्माके दर्शन हो
तो उसे ऐसा लगता है मानो भगवान् मिल गये हैं और सचमुच
ऐसा अनुभव करता है कि दया, प्रेम, शान्ति, वैराग्य, समता, आन
ज्ञान और भगवान्‌की अखण्ड अनुभूति आदि दैवी गुण दिव्य राज
उतरकर उस महात्माके संकेतसे मेरे अंदर प्रवेश कर रहे हैं।

९९–भगवान् मुँहमाँगी कामना नहीं पूरी करते। वे उ
कामनाको पूर्ण करते हैं, जिसमें हमारा कल्याण होता है। वे उ
सद्वैद्यके समान हैं, जो रोगीके रोगका निदान करके उसे उचि
औषध देता है। वे उस दवाके दूकानदारके समान नहीं हैं, ज
पूरी कीमत मिल जानेपर कोई भी दवा खरीदारको दे देता है—चाहे
वह उसके लिये हानिकर ही हो।

१००–भक्तके हठ करनेपर यदि कभी कोई ऐसी चीज भगवान्
दे भी देते हैं तो साथ ही उस स्नेहमयी माकी तरह रक्षा भी करते
हैं, जो बच्चेके हठ करनेपर उसे चाकू दे तो देती है, परंतु यह
ध्यान रखती है कि उसे चोट न लग जाय।

१०१–भगवान्‌की दी हुई वस्तु असलमें बुरा परिणाम करने-
वाली होती ही नहीं; क्योंकि भगवान्‌के मङ्गलमय दानमें अमङ्गलको
गुंजाइश ही नहीं है।

१०२–निरन्तर यह अनुभव करते रहना चाहिये कि भगवान्‌की
कृपा मेरे ऊपर अनवरत अपार रूपसे बरस रही है। मैं ऊपर-नीचे,
आगे-पीछे सर्वत्र भगवत्कृपासे सराबोर हूँ। भगवत्कृपामें डूबा हूँ।
भगवत्कृपासे अलग होना चाहूँ तो भी नहीं हो सकता।

## ( सप्तम माला )

१—वेद-शास्त्र इसीलिये जगत्का कल्याण करते हैं कि उनमें भगवान्के गुण, महत्त्व, तत्त्व, रहस्य, स्वरूप, लीला, धाम और नाम आदिका विशद विवेचन है।

२—तीर्थ इसीलिये पतितपावन हैं कि उनमें भगवान्के प्यारे संतोंने निवास किया है।

३—भगवान्का नाम ऐसा अमृत है, जो किसी प्रकारसे—भाव-कुभाव-अभावसे जीभके साथ छुए जानेपर मनुष्यका बलात्कारसे कल्याण कर देता है।

४—सच्चा वीर वही है, जो संसार-समरमें जूझकर प्रकृतिपर विजय पाता है और भगवान्के अमल अकल अनन्त आनन्द-साम्राज्यको प्राप्त करता है।

५—भाग्यवान् वही हैं, जिनका भगवच्चरणोंमें अनन्य अनुराग है।

६—जिस क्रियासे, अध्ययनसे, स्थानसे, सङ्गसे, भगवान्के भजनमें बाधा होती है, वे सब अनर्थ हैं। इन अनर्थोंकी निवृत्ति होती है भजनसे। अनर्थके मिट जानेसे निष्ठा प्राप्त होती है अर्थात् भगवान्से मन हटता ही नहीं। निष्ठासे रुचि, रुचिसे प्रेम और प्रेमसे आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति उत्पन्न होनेके बाद फिर कुछ करना

हीं पड़ता, स्वतः भजन होता है। जब कामना-वासना नष्ट हो जाती हैं,
ब भाव उत्पन्न होता है । भावके प्रकाशमें साधनाके सब विघ्न मिट
ाते हैं। × × × × परम भाग्यवान् किसी व्यक्तिको श्रीकृष्णके
कसी भक्तकी अथवा श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त होनेपर यह भाव श्रवण-
कीर्तन आदि साधनाके बिना ही प्राप्त हो जाता है । ऐसा कहीं-कहीं
ही होता है । इसमें साधना नहीं करनी पड़ती, हठात् तरङ्ग आती
है, मन नाच उठता है और कामना-वासनाका नाश हो जाता है ।

७—लोगोंके देखनेमें वृन्दावनधाम आठ कोस लंबा तथा चार कोस चौड़ा है, पर भगवान्‌का धाम अचिन्त्य चिन्मयस्वरूप है। उसके एक-एक धूलिकणमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका समावेश हो सकता है और है ।

८—भगवान्‌के परम भक्तके सिवा विषयासक्तिका गुप्त अङ्कुर सबमें रहता है । ऊपरसे तमाम घास जल जानेपर भी कहीं-न-कहीं जमीनके अंदर कोई अङ्कुर रह ही जाता है। पर जो भगवान्‌के भक्त हो जाते हैं, उनमें कहीं भी विषयोंका अङ्कुर नहीं रहता; क्योंकि उनका जिम्मा भगवान् ले लेते हैं । एक तो तैरकर जायँ, एकको भगवान् हाथ पकड़कर ले जायँ। इन पिछले भक्तोंको किसी प्रकारका डर नहीं । ज्ञान आदिके रहनेपर तो शायद मनुष्य गिर जाय, पर जो भगवान्‌के भक्त हैं, वे नहीं गिर सकते; क्योंकि उनको जीवनके आरम्भसे ही भगवच्चरणोंका आश्रय रहता है । वे सब बाधा-विघ्नोंके मस्तकपर चरण रखकर चलते हैं; उनकी रक्षा भगवान् करते हैं । योगी चाहे भ्रष्ट हो जाय, चाहे ज्ञानी पार न हो, पर भगवान्‌के वास्तविक चरणाश्रित भक्तको भगवान् अपने चरणोंसे, अपनी कृपा-डोरीसे बाँधे रखते हैं; वह कभी गिरता ही नहीं। वही वास्तवमें परम अभय है । वहाँ पतनकी

आशङ्काके लेशकी भी गन्ध नहीं। वह श्रीकृष्णकी कृपासे सदा लिये मुक्त हो जाता है।

९—जो श्रीकृष्णके अनुगत हो, वह जड़ पदार्थ भी परम पूजनीय है पर जो श्रीकृष्णके अनुगत न हो, वह देवता भी सर्वथा अपूजनीय है।

१०—भगवान्‌की प्रकट लीलामें जितने भी लीलासहचर वात्सल्य, मधुर एवं सख्यभाव रखनेवाले हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; क्योंकि वे सभी भगवान्‌के पार्षद हैं। उनके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, स्फुरणा होती है, वे जो कुछ भी करते हैं, करनेकी चेष्टा करते हैं; सब भगवान्‌की इच्छा-शक्तिसे समन्वित लीलाशक्तिके द्वारा होता है तथा वह सब भगवान्‌की लीलाका उपकरण है।

११—भगवान्‌की बाललीलाएँ ठीक प्राकृत बालकोंकी भाँति होती हैं। उनमें अप्राकृत भाव देखनेको नहीं मिलता। अप्राकृतका यह विचित्र प्राकृतानुकरण देखनेमें बड़ा मनोहर होता है। × × × × जिनके संकल्पसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका संचालन होता है, उनकी प्राकृतलीलाको देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि ये सर्वेश हैं कि नहीं। × × × × यदि कोई उनके चरणोंकी शरण लेकर माधुर्य ग्रहण करना चाहे तो उसे ज्ञात होगा कि अप्राकृतकी यह प्राकृतलीला कितनी मधुर है। भगवान्‌की भक्तवत्सलता एवं प्रेमाधीनता-का यहीं पता लगता है। अखिल ब्रह्माण्डपालक होकर भी वे अपने असीम ऐश्वर्यका जरा-सा भी प्रकाश नहीं करते। बच्चोंके साथ ठीक बच्चे होकर खेलते हैं। पर ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वे कोई दम्भ करते हैं; वे सचमुच ही खेलते हैं, सचमुच ही उन्हें इसमें आनन्द मिलता है। आनन्दको आनन्द देना, आनन्दमयमें आनन्दकी

कामना—स्पृहा उत्पन्न करना, यह भक्तोंका ही काम है। आनन्दका रस लेनेके लिये ही भगवान् वात्सल्य, सख्य आदि भक्तोंके अनुरूप लीला करते हैं। अप्राकृतकी लीला अप्राकृत है, पर देखनेमें प्राकृत-सी है। भक्तोंको सुख हो, भगवान् उसी प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। भक्तोंके सुखमें उन्हें सुख होता है। उनकी श्रीकृष्ण आदि अवतारोंकी लीलाएँ नहीं हैं; वे तो नित्य होती हैं और नित्य होती रहेंगी। यह नहीं कि पहले नहीं थीं, अब प्रकट हुई हैं। भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ भी नित्य हैं। इनमें मायिक जगत्का काम नहीं। जो भक्त इनमें आनन्द लेते हैं, वास्तविक रूपमें वे ही भाग्यवान् हैं।

१२—श्रीकृष्ण जिनके नहीं, उन्हींको डर है। जिनके श्रीकृष्ण हैं, जिनके पीछे-पीछे श्रीकृष्ण चलते हैं, जिन्होंने अपनी सारी सँभाल श्रीकृष्णको सौंप दी है, उनको क्या डर है, वे तो सदा अभय विचरते हैं; जो श्रीकृष्णके अनुयायी हैं, जिनके रक्षक श्रीकृष्ण हैं, वे विघ्नोंकी परवा नहीं करते; वे विघ्नोंकी ओर बढ़ते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विघ्नोंका विघ्नत्व मिट जाता है। उनके संयोगसे विघ्नोंका विघ्नपना तो मिट ही जाता है, साथ ही भगवान् भी उन्हें अपना लेते हैं—स्वीकार कर लेते हैं।

१३—समुद्रमें बाढ़ आ जाय और उसमें तटके बड़े-बड़े शिखरों-वाले पहाड़ छिप जायँ तो इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वहाँ पहाड़ नहीं हैं; किंतु वे बहे हुए सिन्धुगर्भमें कुछ देरके लिये अदृश्य हो गये हैं। इसी प्रकार जब गोपबालकोंके प्रेम-समुद्रके तटपर अनन्त-शक्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण लीला करते हैं, तब उसकी तरङ्गोंमें भगवान्की अनन्त

शक्ति छिपी हुई रहती है, पर जब किसी भक्तपर अनुग्रह करन
आवश्यकता होती है, तब वह तत्काल प्रकट हो जाती है।

१४—लीला एवं कृपाशक्ति भगवान्‌की समस्त शक्तियोंमें प्रधान
कोई भी शक्ति इन दोनों शक्तियोंके विरोधमें आत्मप्रकाश नहीं करते
सारी शक्तियाँ इन दोनों शक्तियोंके प्रकाशके लिये ही कार्य करती हैं

१५—भगवान् दम्भ नहीं करते। भगवान्‌की जितनी भी
लीलाएँ होती हैं, उनमें भगवान् जानते हुए भी अनजानकी भाँति क
करते हों, यह बात नहीं है। उनकी प्रत्येक लीला सच्ची है। लील
शक्तिकी इच्छासे वहाँ सर्वज्ञताशक्ति भी छिपी रहती है।

१६—काँचके आवरणमें ढके हुए दीपककी लौमें सारे नगरोंको
फूँकनेकी शक्ति है, पर बिना प्रयोजन हुए तथा संयोग हुए उसकी वह शक्ति
प्रकट नहीं होती। इसी प्रकार गोपबालकोंके प्रेमके आवरणमें ढके हुए
श्रीकृष्णमें सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, अन्तर्यामित्व आदि असंख्य शक्तियाँ
वर्तमान हैं, पर प्रयोजनाभावसे उन शक्तियोंका प्रकाश नहीं होता।

१७—जीवकी तुच्छ शक्तिके काँटेपर जब हम भगवान्‌की क्रियाओं-
को तौलने जाते हैं, तब विफल ही होते हैं। पर यदि अपनी शक्ति-
को भूलकर श्रीकृष्णकी अचिन्त्य शक्तिकी ओर ध्यान दें तो हमें मालूम
होगा कि उनकी अचिन्त्य शक्तिके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।

१८—भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तको इतना प्यार करते हैं
कि भक्तके लिये विपत्ति-लेश-कण-सम्भावनासे ही वे अनन्तशक्ति-
सम्पन्न और नित्य परमानन्दस्वरूप होते हुए भी शक्तिरहित, अत्यन्त
व्याकुल सजलनयन, हताश, निर्वाक्, निःस्पन्द, व्यग्र, निरानन्द हो

जाते हैं; चिन्तामणि चिन्तासागरमें डूब जाते हैं। वे इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उन्हें कोई उपायतक नहीं सूझता। वे किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। भक्त-रक्षाके लिये यदि भगवान्‌में वास्तवमें व्यग्रता प्रकट न हो तो यह दम्भ होता है, कपट होता है, पर भगवान्‌में ऐसी बात नहीं। वे वास्तवमें व्यग्रताका रसास्वादन करते हैं। वे कुछ क्षणोंके लिये अज्ञ बनकर विज्ञसमाजमें अपनी भक्तवत्सलताका उज्ज्वल दृष्टान्त प्रकट करते हैं। भगवान्‌की भक्तवत्सलताके व्यवहारकी गम्भीरता देवताओंकी भी समझमें नहीं आती। वे भी उस समय अनिष्टकी आशङ्कासे 'हाय! हाय!' चिल्लाने लगते हैं।

१९—जो मुक्ति, भुक्ति तथा सिद्धिके लिये भगवान्‌के पास आना चाहते हैं, वे निकट होते हुए भी अत्यन्त दूर हैं। पर जो भुक्ति, मुक्ति एवं सिद्धिका त्याग करके केवल श्रीकृष्ण-सेवाके लिये ही उनके पास आना चाहते हैं, वे अत्यन्त दूर रहते हुए भी निकट हैं। सब वस्तुओंको छोड़कर केवल श्रीकृष्ण-सेवाको ही चाहना निष्काम उत्कण्ठा है। इस निष्काम उत्कण्ठा तथा तज्जनित श्रीकृष्ण-कृपासे वे भगवान्‌के पास तत्काल पहुँच जाते हैं।

२०—जिस प्रकार भगवान् अपनी मायाशक्तिसे जीवोंको बाँधते हैं और कृपाशक्तिसे उनका बन्धन मुक्त कर देते हैं, उसी प्रकार प्रेमी भक्त भी अपने प्रेम-क्रोधसे भगवान्‌को बन्धनमें ले लेते हैं और अपने प्रेमानुग्रहसे उनको मुक्त कर देते हैं।

२१—श्रीकृष्णकृपा ही जीवनका एकमात्र बल है। उसके लिये कुछ भी असाध्य नहीं। जो श्रीकृष्णकी कृपासे वञ्चित रहते हैं, वे यदि करोड़ों वर्षोंतक साधना करते रहें तो भी दुस्तर संसार-सागरसे

पार नहीं हो सकते। संसार-सागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय है श्रीकृष्णकी कृपा, उनके चरणोंका आश्रय।

२२–लीलामयके लीला-सिद्धान्तको समझनेके लिये लीलामयके चरणोंकी शरण लेनी चाहिये। जो अपनी विद्या और अपनी शक्तिके बलपर उनको समझना चाहता है, जानना चाहता है, वह न तो भगवान्‌को समझ ही सकता है और न जान ही सकता है। वह असली वस्तुको जान नहीं सकता और उसमें अपनी मायिक बुद्धिसे, मायिक समझसे प्राकृतभाव घर कर बैठता है। ××××× भगवान्‌की लीलाको समझनेके लिये भगवान्‌की कृपापर भरोसा करना, अचिन्त्य महाशक्तिकी शरण लेना तथा श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, नहीं तो विपरीत धारणा हो जाती है, विश्वास नहीं होता और उस लीलामें रूपक, कल्पना, दृष्टान्त, प्रक्षिप्तता आदि दोषबुद्धि आ जाती है। इस प्रकार हम लीलाकथा सुनकर अविश्वास करके नाना प्रकारके अपराध कर बैठते हैं। हमारे पापके साथ-साथ वक्ताको भी पापका भागी होना पड़ता है। जो श्रीकृष्ण-लीलामें जरा भी अविश्वास करते हों, जो अपनी विद्वत्ताके कारण उसे रूपक, कल्पना आदि बताते हों, उनके सामने लीला-कथा नहीं कहनी चाहिये। श्रीकृष्ण-लीला उन्हींके सामने कहनी चाहिये जो तर्कके स्थानपर विश्वास रखते हों तथा जो श्रद्धापूर्वक लीलाकथा सुनना चाहते हों। भगवान्‌की लीला अत्यन्त गुह्य है।

२३–श्रीकृष्णका ऐश्वर्य तो सर्वत्र व्याप्त है, उसे देखनेके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। पर उनका माधुर्य बड़ा गोपनीय है; उसका प्रकाश उनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। उनका माधुर्य तो उनकी मुग्धतामें ही है। वे जब बहुत बड़े होकर भी बहुत छोटे

बनते हैं, ज्ञानमय होकर भी अज्ञ बनते हैं, प्रेमी भक्तोंके साथ मिलन एवं विरहकी लीला करते हैं, उस समय उनका माधुर्य-सिन्धु उमड़ता है और उसमें ऐसी बाढ़ आती है, जिससे सारा जगत् आप्लावित हो जाता है।

२४—व्रजकी गोपियाँ वात्सल्य और मधुर प्रेमकी कल्पलताएँ हैं, जो कृष्णरूपी कल्पवृक्षसे नित्य लिपटी रहती हैं।

२५-सचमुच जिनका मन श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र हो जाता है, जो श्रीकृष्णको पानेके लिये पागल हो जाते हैं और उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं, जिनमें श्रीकृष्णप्राप्तिकी लालसा आत्यन्तिक रूपसे जाग्रत् हो जाती है, वे पथ-अपथ क्या देखते हैं? वे कब हिसाब लगाते हैं कि इस रास्तेमें कितना क्लेश है? उनको कौन रोक सकता है? उनकी उद्दामगतिमें कौन बाधक हो सकता है? उनको कोई दुःख रोक नहीं सकता। दुःख उनके ध्यानमें आता ही नहीं; स्त्री-पुत्र, धन-मान, कीर्ति आदिकी लालसा उनको मोहित नहीं कर सकती। हजारों, लाखों दुःखोंको भी वे दुःख नहीं मानते।

२६—भगवान् श्रीकृष्ण अतर्क्य हैं। उनके स्वरूपका, ऐश्वर्यका, माधुर्यका तर्कसे अनुमान नहीं हो सकता। तर्कके लिये किसी दृष्टान्तकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्के लिये कोई दृष्टान्त लागू नहीं होता। भगवान्का ऐश्वर्य, माधुर्य स्वरूप भगवान्के लिये ही सम्भव है अतएव दृष्टान्त-विहीन—जिनके लिये कोई दृष्टान्त सम्भव ही नहीं—के विषयमें तर्क आदि करनेकी सम्भावना ही नहीं है।

२७—श्रीभगवान् स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं। वे अपनी कृपाशक्तिसे जिनके गोचर होना चाहते हैं, केवल वे ही उन्हें देख सकते हैं। चक्षु आदि कोई प्राकृत इन्द्रिय उनका प्रकाश नहीं कर

सकती। मायिक आदि चक्षुसे केवल मायिक वस्तुओंका ही दर्शन हो सकता है।

२८—श्रीकृष्णके स्वरूपको, श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको, श्रीकृष्णके माधुर्यको ग्रहण करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। जिसपर भगवान् कृपा करते हैं, वे ही उन्हें देख सकते हैं, जान सकते हैं। यदि भगवान् कृपा न करें तो कोई भी अपनी शक्तिसे न उन्हें देख सकता है और न जान ही सकता है। भगवान् जब कृपापूर्वक किसीकी माया-अन्धता दूर कर देते हैं, तभी वह पुरुष उन्हें जान सकता है और देख सकता है।

२९—भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ही जीवनका चरम लक्ष्य है और वही परम आश्रय है।

३०—जीवका परम पुरुषार्थ क्या है? भगवान्‌की प्राप्ति। जबतक उसे भगवान्‌की प्राप्ति न होगी, वह सुखी होगा ही नहीं। जीव अनादिकालसे अविद्यासे बँधा है। अतः वह स्वप्रकाशको छोड़कर अविद्याकी ओर दौड़ता है। जैसे नींदमें सोया हुआ आदमी स्वप्नमें देखता है—'जगा हुआ हूँ,' उसी प्रकार अविद्यामें फँसे हुए जीव अपनेको जगा हुआ मानते हैं। यह भी अविद्याका एक स्वरूप है।

३१—जीवनमें जहाँ कृत्रिमता है, वहाँ हम भगवान्‌को धोखा देना चाहते हैं। भगवान् कभी धोखा खाते नहीं, अतः हम ही धोखा खा जाते हैं।

३२—एक मौत है हमें मारनेवाली और एक मौत है मौतको मारनेवाली। मौतको मारनेवाली मौत कौन-सी है? भगवान्‌का स्मरण करते हुए मौतका प्राप्त होना। भक्तोंके सामने जो मौत आती है, वह मरनेको ही आती है—चाहे आवे मारनेको।

३३—विजातीय बातोंको हम ग्रहण नहीं करते। किसी व्यक्तिमें यदि क्रोधका भाव नहीं है तो कोई दूसरा मनुष्य उसके सामने या उसपर क्रोध करे तो उसमें क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता। क्रोध तभी उत्पन्न होता है, जब क्रोधका बीज पहलेसे हृदयमें विद्यमान रहता है।

३४—प्रतिध्वनि ध्वनिके अनुकूल होती है। दूसरोंसे हम वही प्राप्त करते हैं, जो कुछ हम दूसरोंको देते हैं। वही उसका प्रतिरूप होता है।

३५—हिंसक मनुष्य अपनी हिंसाके पापसे नष्ट हो जाते हैं और साधु अपनी साधुताके कारण सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। अपनेमें साधुता ठीक-ठिकानेसे बनी रहे तो कोई भी हिंसापरायण व्यक्ति, चाहे उसमें बल दीखे, कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि साधुता नीची चीज है; ऊँची चीज यही है और यही बचाती है।

३६—भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। अतः उनके गुण नाशवान् नहीं—दिव्य हैं, नित्य हैं। भगवान्‌में प्राकृत गुणोंका संस्पर्श-लेश भी नहीं है, इसीलिये भगवान् निर्गुण हैं। भगवान्‌के जो गुण हैं, वे गुणीसे अलग नहीं हैं; जीवोंमें गुण-गुणीका भेद होता है। भगवान् और उनके गुण दोनों सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, दोनोंका एक रूप है। भगवान् प्राकृत गुणोंसे रहित होते हुए भी स्वरूपभूत, स्वाभाविक, नित्य अनन्त कल्याणगुणसमूहसे सम्पन्न हैं; अतः वे सगुण भी हैं।

३७—भगवान्‌में प्राकृत गुण नहीं, अतः वे निर्गुण हैं; उनमें प्राकृत आकार नहीं, अतः वे निराकार हैं। भक्त उनके दिव्यरूपमें

उनका पूजन करते हैं, अतः वे साकार भी हैं।

३८—भगवान्‌के कर्म भगवान्‌के स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं इसीलिये भगवान्‌के कर्मोंका नाम कर्म नहीं, लीला है। लीला सच्चिदानन्दस्वरूपका चित्स्वरूप-विलास है। जैसे समुद्रकी तरङ्गें समुद्रक ही विलास हैं, वैसे चित्-घन-सिन्धु भगवान्‌की लीला चित्स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

३९—भगवान्‌में जो ऐश्वर्य है, वह सम्पूर्ण नहीं है; क्योंकि सम्पूर्णता भी निर्देश करती है कि वह 'इतना' है, वह भी कोई सीमाका निर्देश करती है। पर भगवान्‌का ऐश्वर्य तो सम्पूर्ण होते हुए भी अपरिमित है, उसकी गणना भगवान् भी नहीं कर सकते। भगवान्‌के गुण अनन्त, अचिन्त्य, अगम्य हैं।

४०—भक्तोंका आनन्द बढ़ानेके लिये भगवान्‌का सच्चिदानन्द-स्वरूप आनन्दसमुद्र उमड़ता है, इसी कारण भगवान् भक्तका आनन्द बढ़ानेके लिये अपनी हार भी स्वीकार करते हैं।

४१—भक्त और भगवान्‌में जब होड़ लग जाती है, तब भगवान् अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं, यह भगवान्‌की प्रेमाधीनता है। भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा भगवान् अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भी करते हैं। वे तो नित्यविजयी हैं, उन्हें कौन हराये! पर भगवान् और भक्तकी होड़में भगवान् हार जाते हैं।

४२—भगवान्‌की लीला-माधुरी और भक्तका प्रेम आपसमें होड़ लगाये रहते हैं। भगवान्‌की लीला भक्तके प्रेमको बढ़ाती रहती है और भक्तका प्रेम भगवान्‌की लीलाको। जिस प्रकार दर्शक और अभिनेता दोनों मिलकर अभिनय-माधुरीका उपभोग करते हैं, वैसे ही भक्त और भगवान् मिलकर लीला-माधुरीका उपभोग करते हैं।

ही रहना चाहते हैं शुद्ध हृदयसे ! इस प्रकारकी भक्ति प्राप्त करनेके दो ही उपाय हैं—या तो परम शुद्धा भक्ति या भगवत्कृपा ।

५२—यह धारणा भ्रान्त है कि मनकी शुद्धिके बिना उद्धारकी आशा नहीं । मनमें यह भाव नहीं कि यह अग्नि है । पर स्पर्श करनेसे हम जल जायँगे । अग्निके दाहकता-गुणको न जाननेसे वह मिट थोड़े ही गया । सूरजके प्रकाशके सामने कोई अनजानमें आ जाय तो क्या उसे ताप-प्रकाश नहीं मिलेगा ? वस्तुगुण होता ही है। ऐसे ही भगवान्‌के शरण होनेसे उद्धार निश्चय ही हो जाता है ।

५३—पापोंसे, तापोंसे बचनेका सीधा उपाय है श्रीकृष्णसे प्रेम कर लो । इन्द्रियोंके जो दोष हैं, अवगुण हैं, वे सब मिट जायँगे। जिस प्रकार राजाके साथ प्रेम करनेवालेके पास चोर नहीं आते, उसी प्रकार जिसका भगवान्‌से प्रेम है, उसके सामने पाप-ताप सब अपने-आप ही मिट जाते हैं ।

५४—ब्रह्माजी और चीजोंका दान दे सकते हैं, पर भक्तिका नहीं; क्योंकि यह उनके हाथकी बात नहीं ।

५५—जिन लोगोंके शरीर, मन, वाणी श्रीकृष्णको लेकर एक नहीं हो गये हैं, उनके लिये श्रीकृष्ण सब समय सोये हुए हैं । पर जिन लोगोंके शरीर, मन और वाणी प्रेमको लेकर श्रीकृष्णके सम्बन्धसे एक हो जाते हैं, उनके लिये श्रीकृष्ण स्वयं आकर, पुकार-पुकारकर उनके पास जाते हैं ।

५६—शरीर, मन और वाणी—तीनोंकी एकतानता हो जानी चाहिये । बस, श्रीकृष्णका स्पर्श हो जायगा । शरीर, मन, वाणीसे एकतान होनेपर भक्तको नहीं पुकारना पड़ता भगवान्‌को, भगवान् ही उसे पुकारते हैं ।

५७—व्यवहारमें जो बाहरी अच्छापन है, उसका भी ·
होता है। चित्तशुद्धि और चित्तनिरोध करनेके समय बाहरका ·
न हो तो काम नहीं चलता। पर अन्तःकरणकी अशुद्धिको छिप
बाहर शुद्ध व्यवहार करना भी बहुत दिनतक सम्भव नहीं
सकता! बाहरी शुद्धता अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक है। ·
भाव बगीचेकी बाड़ है, दीपकका आवरण है। अतएव बाहरके त्य
की भी बड़ी आवश्यकता है।

५८—खान-पान, आहारके साथ धर्मका बड़ा सम्बन्ध है। खाये
अन्नके तीन भाग होते हैं——स्थूलांशका मल, मध्यमांशका मांस ·
सूक्ष्मांशका मन बनता है। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक—जैसा अ
होगा, वैसा ही मन बनेगा और मनके अनुसार ही सारे कार्य होते है

५९—मन बड़ा संक्रामक है। जैसे मनोभावसे युक्त होकर अ
दिया जाता है, खानेवालेपर वैसा ही उसका प्रभाव होता है। क्रोधीक
अन्न खानेसे क्रोध, कामीका अन्न खानेसे काम उत्पन्न होगा। जह
भरे भावसे देनेपर अन्नमें जहरका-सा असर हो जाता है। ए
आदमी अन्न खिला रहा है और सोचता है 'यह आफत कहाँसे अ
गयी!'—उसे बड़ा भार माळ्म हो रहा है, तो उसका खिलाया हुआ
अन्न पचेगा नहीं। एक आदमी बीमार है और अनिच्छासे बाध
होकर उसे भोजन बनाना पड़ता है तो इसका भी बुरा असर होगा
शोक-विषाद पैदा होगा। मा बीमार होकर भी बनाये तो उसक
अच्छा ही असर होगा; क्योंकि माका भाव शुद्ध है, उसमें स्नेह है।

६०—सदन्नका अर्थ है—जो परिश्रमपूर्वक ईमानदारीसे कमाये
हुए धनसे—हिंसारहित, सात्त्विकतापूर्वक किसीका भी हक न मारकर

ायपूर्वक अर्जन किये हुए धनसे लाया जाय। पहली बात तो यह हुई। [illegible]सरे, अन्न जातिसे भी सात्त्विक हो तथा तीसरे, जिसके द्वारा प्राप्त हो ह देनेवाला, बनानेवाला और परोसनेवाला भी सात्त्विक-भावापन्न हो।

६१—जब बहिर्मुखता बढ़ जाती है, तब मनुष्य कहने लगता है कि अमुक जगह खायँ, अमुकके हाथका खायँ—इसमें क्या तथ्य है। ये सब संकीर्णताकी बातें हैं, इनमें उदारता नहीं। इन्हें छोड़नेमें ही उदारता है। पर ऐसी उदारता जहाँ आती है, वहाँ दुःख-दैन्य आदि बढ़ते हैं। अमुकके हाथका न खायें, अमुकके हाथका खायें—इसमें किसीके प्रति घृणाका भाव नहीं है कि यह नीच है, हम पवित्र हैं। अरे, वह नीच क्यों—हम उससे भी अधिक नीच हो सकते हैं। किसीके प्रति घृणा करना तो पाप है। यह तो अपने बचावके लिये है। मा रजस्वला होती है, तब हम उसके भी हाथका अन्न नहीं खाते। यहाँ घृणा थोड़े ही है।

६२—बड़भागी वे नहीं, जिनके पास प्रचुर मात्रामें धन है या जिनका विषयोंमें बहुत प्रेम है। बड़भागी वे हैं, जिनका भगवान्‌में प्रेम है। बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मणसे, जो भगवान्‌से प्रेम नही करता, एक चाण्डाल, जो भगवान्‌के चरणारविन्दका सेवक है अधिक सौभाग्यशाली है। भगवान्‌में प्रीति-सम्पादन कर लेन कोई छोटे-मोटे भाग्यकी बात नहीं है; यह तो परम सौभाग्य है

६३—भोग मनुष्यको अंधा बना देते हैं और वह भगवान्‌व तथा धर्मको भूल जाता है। अंधा होनेपर सुरमा लगाया जाता है भगवान् भी ऐसे भोगीके दरिद्रतारूपी सुरमा लगाते हैं, जिससे [illegible] ज्ञान होता है।

६४—पूजा होती है सफलतामें। असफल महात्माको भी कोई नहीं पूजता, सफल राक्षसको भी सब पूजते हैं। वास्तवमें तो जगत् सफलताको नहीं पूजता, वह तो अपने स्वार्थको ही पूजता है।

६५—प्रेम होना चाहिये; जिस वस्तुमें प्रेम होता है, उसके सेवनमें नींद नहीं आती, जी नहीं ऊबता। XXXX भगवान्‌की सेवाका समय उपस्थित होनेपर प्रेमीके सामने जितने भी प्रतिबन्ध हों वे अपने-आप हट जाते हैं।

६६—मन्त्रकी शक्ति विज्ञानसे अधिक है। मन्त्रके द्वारा जो जैसा करना चाहें कर सकते हैं, प्राचीन कालमें मन्त्रविज्ञानको लोग जानते थे और मन्त्रोंपर उनका विश्वास था। मन्त्रोंके द्वारा ऐसे काम होते थे, जिनको आज असम्भव माना जाता है। इसी कारण भौतिक विज्ञानकी उस समय इतनी आवश्यकता नहीं थी। मन्त्रोंके द्वारा बड़े-से-बड़े निर्माण और ध्वंसके काम होते थे। उस समय विज्ञान भी था। विज्ञान असुरोंके पास था और मन्त्र ब्राह्मणोंके पास। मय दानवने अर्जुनको अपनी मायावी विद्या (विज्ञान) सिखानेको कहा था; परंतु अर्जुनने मना कर दिया कि इससे हमारी पवित्रता नष्ट हो जायगी, फिर हमारी वीरता कहाँ रहेगी।

६७—अविद्या बाहरसे मनोरम, पर भीतरसे दुःखदायी होती है। देखनेमें बड़ी सुन्दर, पर अंदर जहर भरा है। अविद्यासे विषय-रूपी मीठा विष निरन्तर निकलता रहता है। जगत्‌के जीव उसे बार-बार पीकर मृत्युको वरण करते हैं।

६८—ज्ञानियों एवं कर्मयोगियोंका परम पुरुषार्थ मोक्ष है, पर प्रेमी भक्तोंका परम पुरुषार्थ भगवान् नहीं, भगवान्‌की सेवा है। भगवान्‌की सेवाके लिये वे भगवान्‌का भी त्याग कर देते हैं। प्रेमी भक्त संयोग एवं

वियोग दोनों अवस्थाओंमें भगवान्‌की सेवा स्वीकार करते हैं । ज्ञानी और योगी भगवत्-साक्षात्कार करके अपने स्वरूपको खो देते हैं, पर प्रेमी भक्त अपने आत्माको खोकर भी आत्मस्मृतिको नहीं खोते । भगवान्‌की सेवाका समय आनेपर उनकी आत्मस्मृति फिर जाग्रत् हो जाती है और वे तुरंत भगवान्‌की सेवामें लग जाते हैं । वे सेवाको भूलकर आत्माको नहीं खोते, सेवामें आत्माको खो देते हैं ।

६९—कर्मयोग, ज्ञानयोग आदिके साधक साधनाकी सिद्धि चाहते हैं, सिद्धि मिलनेपर वे साधनाको छोड़ देते हैं, वहाँ साधना भार बन जाती है । जो लोग सिद्धिके लिये साधना करते हैं, उनको पहले भी उस साधनामें इसीलिये रस आता है कि शीघ्र सिद्धि मिल जायगी । पर भक्तमें तो प्रेमके लिये ही प्रेम है । वहाँ तो आदिसे लेकर सदा प्रेम ही है, अन्त तो है ही नहीं । प्रेमकी सिद्धावस्था नित्य अतृप्त रहती है, अतः वह नित्य बढ़ता है । ज्ञानयोग, योगाभ्यास आदिमें एक अवस्था आती है कि जहाँ अलम् है, तुष्टि है, समाप्ति है; पर प्रेमका यह स्वरूप है कि वह सदा नये-नये रसास्वादके लिये व्याकुल रहता है । प्रेमी भक्त सर्वदा सर्वभावसे पूर्ण होते हुए भी सर्वदा सर्वभावसे अपूर्णताका बोध करते हैं।

७०—ज्ञानयोगसे भगवान्‌को ब्रह्म समझकर भजनेवाले संसारसे मुक्त होना चाहते हैं, अष्टाङ्गयोगवाले समाधियोग चाहते हैं, भक्त लोग सामीप्यादि मुक्ति चाहते हैं । ये सब आत्महित चाहते हैं; श्रीकृष्णहितकी चिन्ता किसीके मनमें नहीं है । वे तो श्रीकृष्णको नित्य सुखमय मानते हैं; पर जो लोग श्रीकृष्णके साथ ममताके बन्धनसे बँधकर उनको पुत्र, सखा, प्राणवल्लभ आदि मानते हैं, वे अपने सारे सुखोंको भूलकर श्रीकृष्णके हितकी चिन्ता करते हैं ।

उनका अपना सुख-दुःख कुछ नहीं रहता। श्रीकृष्ण भी ऐसे ममतावान् भक्तोंकी ममताके अनुरूप लीला करके दिव्य प्रेमरसका आस्वादन करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्त धन्य हैं।

७१—भगवान्की कृपाशक्ति इतनी बलवती है कि सारी शक्तियाँ उसके अनुगत रहती हैं। भगवान् भी उसके वशमें होकर भक्तके साथ नाना प्रकारके बन्धन स्वीकार करते हैं।

७२—भगवान्की जितनी लीलाएँ हैं, उनमें बाललीला परम उदार है। अन्य लीलाओंमें यदि भगवान् किसीको ज्ञान दे दें, राक्षसोंको मार दें अथवा राजाओंको राजा बना दें, तो इसमें कोई बड़प्पन नहीं है। बड़ा बड़ा बन जाय; इसमें कोई बड़प्पन नहीं; बड़ा छोटा बन जाय इसमें ही बड़प्पन है। बाललीलामें भगवान्को अज्ञ बालक बनना पड़ता है, अज्ञ बालकोंके साथ स्वयं सम्मिलित होकर वैसी ही लीला करनी पड़ती है और इसीमें उदारता है।

७३—भगवान्के माता-पिता, आभूषण, धाम, लीला, वस्तु आदि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं और सब नित्य हैं।

७४—शक्तिके प्रकाशमें तारतम्यताके हिसाबसे अवतारोंके नाममें तारतम्यता होती है। जो भगवान् कूर्म हैं, वे ही मत्स्य हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। शक्तिप्राकट्यके भेदानुसार अवतारोंकी संज्ञा होती है। भगवान् कूर्म, मत्स्य आदि प्राकृत देह धारण करते हों, यह बात नहीं। उनका जो नित्यसिद्ध स्वरूप है, वही जगत्में आविर्भूत होता है। भगवान्के जितने चिन्मय स्वरूप हैं, सभी अनादि कालसे नित्यधामके दिव्य लोकोंमें नित्य विराजित हैं और वे श्रीविग्रह लीलाविलासके लिये प्रकट हो जाते हैं। एक ही भगवान् अनन्त स्वरूपोंमें बने हुए हैं। उनमें भेद

होते हुए भी सर्वदा अभेद और अभेद होते हुए भी भेद है। वस्तुत: भेद उनमें कुछ भी नहीं, चाहे अंशरूपसे आवें चाहे अंशीरूपसे! जब स्वयं भगवान् अवतार लेते हैं, तब सारे अवतार आकर उनमें मिल जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णमें मत्स्य, कूर्म आदि सभी अवतारोंके कार्य होते हैं। कहीं छोटे-बड़ेका भाव नहीं समझना चाहिये। यह तो भगवान्‌की लीला है।

७५–भगवान्‌की अचिन्त्य महाशक्तिमें विश्वास किये बिना लीलामें रस नहीं आयेगा। उसमें स्थान-स्थानपर संदेह उत्पन्न होगा या उन लीलाओंका आध्यात्मिक अर्थ लगाकर उनका माधुर्य नष्ट कर दिया जायगा। भगवान्‌की लीलावली भक्तोंके सामने नित्य सत्य है और वास्तवमें तो सत्य है ही।

७६–भगवान्‌में सारी शक्तियाँ हैं, पर वे भक्तके प्रेमसे रह नहीं सकते। अतः स्वयं अवतार लेते हैं। वे किसी अन्यके द्वारा भक्तका संकट नहीं मिटाना चाहते। वहाँ कर्तव्य पूरा नहीं होता, क्योंकि प्रेममें प्रतिनिधित्व नहीं चलता।

७७–प्रेममें नित्य कमीका बोध होता है। जो लोग अपनेमें अधिक तथा दूसरेमें कमी प्रेमकी कल्पना करते हैं, वे सच्चे प्रेमी नहीं। प्रेममें अपनेमें ही कमी प्रतीत होती है।

७८–प्रेमी भक्तोंके प्रेमके कारण भगवान्‌के समस्त ऐश्वर्य पद-पदपर पराभव स्वीकार करते हैं। भगवान् आप्तकाम हैं, पर प्रेमी भक्तोंके प्रेमोपहार ग्रहण करनेके लिये वे लालायित हो जाते हैं। नित्य अकाममें भी तीव्र काम उत्पन्न हो जाता है। नित्य तृप्त अतृप्त हो जाते हैं।

७९–प्रेमी भक्तोंके प्रेमकार्योंको जाननेके लिये उन-जैसा प्रेमपूर्ण हृदय चाहिये।

८०—भगवान् द्वन्द्वधर्मोंके परम आश्रय हैं। उनमें एक ही सा परस्परविरुद्ध धर्म रहते हैं और यह उनका स्वाभाविक गुण है। कोटि-कोटि लक्ष्मीपति होकर भी चोरी करते हैं; नित्य-तृप्त होकर भी यशोदा मैयाके स्तनपानके लिये व्याकुल रहते हैं; अवर्ण होते हुए भी कृष्ण, पीत आदि वर्णयुक्त हैं। महान् भी हैं, अणु भी हैं; महान् भी नहीं, अणु भी नहीं; निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; सब कुछ हैं, सबसे परे हैं। असलमें यही भगवान्‌की भगवत्ता है। इसको बिना समझे उनकी लीलाओंका सामञ्जस्य नहीं हो सकता; परम मधुर लीलारसका आस्वादन नहीं हो सकता और न अचिन्त्य ऐश्वर्यका ज्ञान ही हो सकता है तथा इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूपज्ञानमें कमी रह जाती है। भगवान्‌का रोना, क्रोध करना, स्तन पीने आदिके लिये व्याकुल होना न तो प्राकृतिक है और न काल्पनिक ही। यह तो उनका नित्य स्वाभाविक गुण है।

८१—बालस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका क्रोध एवं अश्रुजल दर्शकोंको प्रसन्न करनेके लिये किया जानेवाला नाट्य-अभिनय नहीं है। यह तो श्रीकृष्णके आन्तरिक बाल्यभावकी मधुर अभिव्यक्ति है। भगवान् दम्भ नहीं करते। 'भगवान्‌को वास्तवमें दुःख थोड़े ही हुआ था, उन्होंने तो छल किया था'—ऐसे भावोंसे रस नष्ट हो जाता है। ऐसे भावोंसे तो भगवान्‌की माधुरी एवं भक्तका वात्सल्य दोनों खो दिये जाते हैं।

८२—आन्तरिक भावकी बाह्य अभिव्यक्ति किसी दर्शक या अनुमोदककी अपेक्षा नहीं करती। आन्तरिक भावका स्वाभाविक विकास वहीं होता है, जहाँ जनसमूह नहीं होता। जनसमूहमें कारण उपस्थित होनेपर भी आन्तरिक भाव प्रकट नहीं होता। अकेलेमें

निःसंकोच भावसे आन्तरिक भाव प्रकट होते हैं। किसीके असली स्वभावको जानना हो तो 'वह अकेलेमें क्या करता है' इसे देखना चाहिये, इससे उसका असली रूप प्रकट होगा। श्रीकृष्णने यशोदा मैयाके चले जानेपर अकेलेमें क्रोध करके दहीके मटकेको फोड़ डाला था और भग गये थे। यही असली भाव था।

८३—प्रेम देता है; लेता नहीं। प्रेमका यह स्वभाव है कि वह किसी स्वार्थको लेकर या किसी अपेक्षासे नहीं होता। वहाँ तो मनमें सहज खिंचाव, आसक्ति है। प्रेम इसलिये होता है कि वह हृदयकी चीज है और नित्य वर्द्धनशील है।

८४—मधुर लीला, प्रेमी पार्षदोंका अधिक जुटाव, रूप-माधुर्य और वेणु-माधुर्य—ये चार प्रकारके माधुर्य श्रीव्रजराजनन्दनमें विशेष रूपसे विद्यमान हैं और ये व्रजमें ही रहते हैं; उनके साथ मथुरा और द्वारिका नहीं जाते।

८५—भगवान्के प्रेम-रहस्यको प्रेमी भक्त खोलना नहीं चाहते और न खुलवाना ही चाहते हैं।

८६—श्रीयशोदाजीके हृदयमें अपने सुत श्रीकृष्णके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। प्रेम भावमय होता है। उनके हृद्-पटलपर भगवान् श्रीकृष्णका बाल-विग्रह सदा अङ्कित रहता है, क्योंकि उनका हृद्-पट भावरस-आप्लावित है।

८७—भगवान्के प्राकट्यके समय भी भगवान्की लीला देख-सुनकर भी प्राकृत जीवोंको भगवान्के ऐश्वर्यके प्रति पूरा विश्वास नहीं होता मायाबद्ध मनुष्य भगवान्को नहीं जानते तथा मायामुक्तको भी जब भगवान् जनाते हैं, तभी वे जानते हैं। अपनी साधनासे, अपनी बुद्धिसे, तर्कों

शक्तिसे जितना ही भगवान्‌को जानना चाहते हैं, उतना ही वे दुर्ज्ञेय हो जाते हैं। भगवान्‌को जानना तब होता है, जब उनकी शरण ग्रहण करनेपर उनकी करुणाशक्तिका प्रादुर्भाव होता है। अतः भगवान्‌के चरणोंके शरणापन्न होना चाहिये और जिसकी जितनी शक्ति हो, उसीके अनुसार उनकी सेवा करनी चाहिये।

८८—भगवान्‌की लीलाके सम्बन्धमें जिस समय कोई संदेह होता है, उस समय असलमें हम भगवान्‌को भगवान् नहीं मानते, उन्हें अपनी श्रेणीमें ले आते हैं; नहीं तो कोई संदेह हो ही नहीं सकता। भगवान्‌का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक वाणी देखनेमें विपर्यय मालूम देनेपर भी तत्त्वतः सत्य है।

८९—कोई अपनी बुद्धिसे संदेह मिटाना चाहें तो संदेह नहीं मिटते, बढ़ते हैं। संदेह मिटानेका एकमात्र उपाय है नारायणके चरणोंके शरणापन्न हो जाना। सारे संदेह वहीं मिटते हैं।

९०—राधा-कृष्ण स्त्री-पुरुष नहीं हैं, हमारी तरहसे कर्मसे पैदा होनेवाले पाञ्चभौतिक देहधारी जीव नहीं हैं। वे साक्षात् सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं और एक ही लीलाके लिये दो रूपोंमें प्रकट हैं।···· राधा श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता शक्ति हैं। राधा श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्ण राधा हैं।·······राधा भगवान् श्रीकृष्णकी स्त्री नहीं हैं, राधा भगवान् हैं। भगवान् ( श्रीकृष्ण ) राधाके पति नहीं, भगवान् राधा हैं। ·······और राधा-कृष्ण स्त्री-पुरुष भी हैं, पति-पत्नी भी हैं, प्रकृति-पुरुष भी हैं, पुरुषोत्तम भी हैं, दोनों एक भी हैं, दोनोंकी महिमा कौन जान सकता है।

९१—भगवान्‌का देह देह नहीं, क्योंकि वहाँ देह-देहीका भेद नहीं; वह प्राकृत नहीं। भगवान्‌के प्रकट होनेके समय माताके गर्भमें भी लीला-गर्भ था। भगवान्‌का देह मायिक, पाञ्चभौतिक एवं कर्मफल-जन्य नहीं! भगवान्‌के कर-चरणादि सभी सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूप हैं।

९२—सेवकका यह धर्म है कि स्वामीको कब क्या वस्तु चाहिये यह वह स्वयं जान ले। सेवक सेवाका अवसर स्वयं ढूँढ़ लेता है, स्वामीको आज्ञा देनेकी आवश्यकता नहीं होती।

९३—सेवाके तीन भेद हैं—(१) निकृष्ट—जो व्यवहार य लोकनिन्दा आदिके कारण करनी पड़ती है, पर मनमें भार मालूम होता है। (२) मध्यम—सेवा करना कर्तव्य है, धर्म है। न करनेसे धर्म या कर्तव्यसे च्युत हो जायँगे। (३) उत्तम—कि बिना रहा न जाय। ऐसी सेवा प्रेमसे—स्नेहसे होती है अथवा स्वभावसे होती है। कर्तव्य या स्वार्थ आदिसे नहीं होती।

९४—जिसका जिसके प्रति वास्तविक प्रेम है, वह उसकी से अपने हाथोंसे करता है। प्रेमकी परीक्षा सेवासे ही होती है। कि बीमारके पास हमने बीस नौकर रख दिये, खूब रुपये लगा दि पर वह प्रेम नहीं है। प्रेम तो इस प्रकारकी स्थिति पैदा कर दे कि हम स्वयं अपने हाथों सेवा किये बिना रह नहीं सकेंगे। बीच और कोई स्वार्थ नहीं आवेगा; हमारा तो स्वार्थ वही है, उसीमें है

९५—प्रेमी भक्त नित्य प्रेमका वरदान माँगते हैं। नित्य प्रेम चाहना यह प्रेमका स्वभाव है। जो प्रेम घटे-बढ़े, वह प्रेम प्रेम नहं

९६—सकाम भक्त और शुद्ध भक्त दोनों भगवान्‌से वरद माँगते हैं। पर सकाम भक्त ऐसा वरदान माँगता है, जिससे अप

हित हो, किंतु शुद्ध भक्त ऐसा वरदान माँगता है, जिससे जगत कल्याण हो। और प्रेमी भक्त तो भगवान्‌से भगवान्‌के सुखका ही चाहता है, स्वयं कैसे भी रहे।

९७—भगवान्‌को वश करनेका प्रेम तो हो, पर उसमें भगवा की कृपा न हो तो प्रेम होनेपर भी हम भगवान्‌को (प्रेमके बन्धनमें बाँध नहीं सकते।

९८—जबतक व्याकुलता नहीं होती, तबतक भगवान् गुप्त रहत हैं। पर जब व्याकुलता होती है, तब उनके (भगवान्‌के) चरण-चिह्न स्वयं बता देते हैं कि इधर आओ, भगवान् यहाँ हैं। व्याकुलतासे ही उनके चरण-चिह्न दिखायी देने लगते हैं।

९९—जो अपनी शक्तिसे भगवान्‌को देखना, समझना, उनकी सीमा बाँधना आदि चाहते हैं, उनके लिये भगवान् नित्य अव्यक्त हैं। पर जो भगवान्‌के शरणापन्न हो जाते हैं, उनके लिये भगवान् सर्वदा व्यक्त हैं।

१००—भगवान्‌का बन्धन होता है प्रेमभरी व्यग्रतासे; क्योंकि व्यग्रताके बिना भगवान्‌को बाँधनेवाली भगवत्-कृपाका प्रकाश नहीं होता।

१०१—जबतक कोई काम असाध्य मालूम न दे या अत्यन्त अनिवार्य न हो जाय, तबतक उसके लिये व्यग्रता उत्पन्न नहीं होती। असाध्यपन एवं नितान्त आवश्यकता ही व्यग्रता उत्पन्न करते हैं।

१०२—श्रीकृष्णके लिये प्राण जबतक रो न उठें, तबतक उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता।

१०३–जिसकी जिसमें कामना होती है, वह उसका काम्य है। उसमें बाधा होनेसे उसे क्रोध उत्पन्न होता है। वास्तवमें काम ही प्रतिहत होकर क्रोध बनता है।

१०४–जिस वस्तुमें जितने परिमाणमें कामना होती है, उसके लिये उसे उतने ही परिमाणमें क्रोध होता है।

१०५–भगवान् जिसके साथ मिलकर लीला करते हैं, वे सभी भगवान्के पार्षद हैं। पार्षदोंके दो भेद हैं—( १ ) अनुकूल पार्षद, ( २ ) प्रतिकूल पार्षद। जो अनुकूल पार्षद हैं, वे लीलामें सहायता करते हैं मित्ररूपसे और जो प्रतिकूल पार्षद हैं, वे सहायता करते हैं शत्रु-भावसे। दिव्यधाममें अनुकूल पार्षदोंके साथ लीला होती है। वहाँ प्रतिकूल पार्षद अचेतन-भावसे रहते हैं।

१०६–जब किसीके किसी दोषपर भक्त—सच्चे भक्तकी दृष्टि पड़ जाती है, तब फिर वह दोष दोष नहीं रह जाता। भक्त दण्ड-विधानसे, प्रेमसे, अनुग्रहसे या अनुग्रहपूर्ण शापसे—किसी भी उपायसे उस दोषको नष्ट कर देता है।

१०७–विद्या वही है, जो बुरे मार्गसे हटा दे, विषय-वासनासे चित्त विरत हो जाय, यही उसका सदुपयोग है। विद्यासे जाननेयोग्य असली वस्तु हैं—भगवान् और उनके भजनका तत्त्व।

१०८–भक्त-अपराधी तबतक भगवान्की कृपा नहीं प्राप्त कर सकता, जबतक भक्त उसे क्षमा न कर दे। भक्तके अपराधीको भक्त ही क्षमा कर सकता है और भक्तसे क्षमा प्राप्त कराना बहुत सहज है; क्योंकि भक्तमें न वास्तविक क्रोध होता है और न बदलेकी भावना ही।

## ( अष्टम माला )

१—ऋषि जगत्के बड़े उपकारक हैं। वे मन्त्रद्रष्टा हैं एवं उनके प्रचारक हैं। वैदिक, तान्त्रिक आदि जितने मन्त्र हैं, उनकी साधना कैसे करनी चाहिये—यह जगत्ने जाना है इन ऋषियोंकी कृपासे ही। ऋषियोंका ऋण जगत् कभी चुका नहीं सकता। तमाम साधनोंके प्रवर्तक ऋषि और तमाम साधनोंमें शक्ति देनेवाले भी ऋषि ही हैं।

२—भक्तिकी यह विशेषता है कि वह भक्तको दीन रखती है, उसे निरभिमानी रखती है। भक्तमें कभी भी योगी, ज्ञानी आदिकी भाँति सिद्धावस्थाका अभिमान नहीं आता। भक्त यदि कुछ करता है तो सोचता है—'बहुत थोड़ा हुआ।' वह तो निरन्तर यही सोचता है कि मुझसे कुछ नहीं होता।

३—लीलामयकी लीला प्रतिपदपर अत्यन्त विस्मयकारिणी एवं परम मधुर है।

४—भगवान्के जो भोग लगता है, वह वैसे ही लगता है जैसे हम खाते हैं। भगवान्के श्रीविग्रहको पूजे और साथ ही कहे कि 'भगवान् तो वासनाके भूखे हैं और उन्हें वैसे ही, बिना छीले, साफ किये फल आदि भोग लगा दे तो ऐसे उपेक्षा भाववाले पुरुषका लगाया हुआ भोग भगवान् नहीं खाते। जिस तत्परतासे हम अपने किसी अत्यन्त आदरणीय प्रेमास्पदके लिये भोजन बनाते हैं, उससे भी अधिक प्रेमसे भोग लगायें तो उसे भगवान् अवश्य खाते हैं।

५–भक्तकी वाणी सच्ची करनेके लिये भगवान् सदा सचेष्ट रहते हैं। यदि भक्तके वचन सत्य करनेमें उन्हें अपने वचनोंका परित्याग करना पड़े तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार करते हैं। किसी समय भक्तके वचनके साथ भगवान्‌के वाक्यका विरोध हो जाता है तो वहाँ भक्तका वाक्य रहता है, भगवान्‌का नहीं। ऐसा भक्त कौन है? वही है, जिसके वचनोंकी रक्षाके लिये भगवान् अपने वचन छोड़ दें।

६–भगवान् दूसरेका बन्धन तोड़ देते हैं, पर प्रेमी भक्तोंके दिये हुए अपने प्रेम-बन्धनको नहीं तोड़ सकते।

७–जीवनकी सफलता क्या है?—हमारे हृदयमें सद्गुण आ जायँ, हमारे आचरणमें सदाचार आ जाय, हमारा मुख भगवान्‌की ओर मुड़ जाय। हमारे जीवनमें दैवी गुण हो जायँ और वह भगवद्भजनका मूर्तिमान् स्वरूप बन जाय।

८–जो सांसारिक उन्नति भगवान्‌की प्रीतिमें बाधक है, वह उन्नति उन्नति नहीं, वह तो स्पष्ट अवनति है।

९–दरिद्रता बड़ा दुःख है, पर जो दारिद्र्य जीवनको पवित्र बनानेवाला हो, वह तो वाञ्छनीय है।

१०–जो हो, जहाँ हो, जैसे हो—न वहाँ जाति-पाँतिका भेद, न कर्म-अकर्मका भेद, न कालकी अपेक्षा—वह, वहाँ, वैसे ही भगवान्‌से मिल सकता है। बस, इच्छा तीव्र होनी चाहिये वैसी ही, जैसी प्यासेको जलकी होती है।

११–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ माने जाते हैं। संसारमें अर्थ और काम दोनोंकी आवश्यकता है। पर अर्थ और काम

धर्मके अनुकूल होने चाहिये, तभी उनका फल मोक्ष होता है। जं अर्थ, जो काम धर्मसम्मत न हो, वह पुरुषार्थ नहीं, अनर्थ है।

१२–नवधा भक्तिके दो अङ्ग हैं—पहले छः (श्रवण, कीर्तन स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन) साधनाके हैं; अन्तिम तीन (दास्य सख्य, आत्मनिवेदन) साधनाकी सिद्धिके। दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदनका सेवन केवल इच्छासे नहीं हो सकता; श्रवण-कीर्तन आदि करते-करते चित्त शुद्ध होनेपर दास्य आदि स्तर प्राप्त हो सकते हैं। श्रवण आदि तो अशुद्ध चित्तसे भी हो सकते हैं; दास्य आदि अशुद्ध चित्तसे नहीं हो सकते। इनमें चित्तकी शुद्धि हुए बिना काम नहीं चलता और न दासत्व आदिका स्वाँग धरनेसे ही। × × × ×

साधनावस्थामें अपने अधिकारके अनुकूल कार्य करना चाहिये। उसमें सिद्धावस्थाकी बातको अपनानेसे साधन रुक जाता है। दास्य आदिकी बात करनेसे काम नहीं चलता। पहले श्रवण-कीर्तन आदिमें लगना चाहिये।

भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'भगवन्! मुझे साधनके अङ्ग प्रदान कीजिये।

१३–आगमें जलनशक्ति स्वाभाविक है। अग्निसे कहना नहीं पड़ता कि 'हे अग्निदेवता! आप काठको जलाओ।' इसी प्रकार भगवान्‌का करुणा-गुण स्वाभाविक है। उसका प्रकाश करनेके लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। भगवान् नित्य इस जगत्‌के कल्याणके लिये करुणामय हैं। इसीलिये वे इस प्राकृत जगत्‌में प्राकृत-सा रूप धारण करके प्राकृतकी भाँति लीला करते हैं। यह करुणा-गुण

है, पर जिनको धन-मद होता है, वे हँसते-हँसते अपने हाथों मानवताको मिटाकर छोड़ते हैं। धन-गर्वित सोचते हैं कि किसीपर दया करना तो चित्तकी कमजोरी है। धन-गर्व धनकी लालसाको बढ़ाता है और स्त्री, जूआ और मद्य—इन तीनों व्यसनोंको किसी-न-किसी रूपमें ला देता है। पर-पीड़नके द्वारा आत्म-पोषण—यह धन-गर्वित लोगोंका स्वभाव बन जाता है। कृमि, विष्ठा एवं भस्मके पूर्वरूप शरीरको ही सब कुछ मानना बड़ी बुरी बात है, पर धनका गर्व सब कुछ करा देता है।

२४—शरणागतिके दो स्वरूप हैं—

( १ ) शुद्ध होकर भगवान्‌की शरणमें जाना। इसमें शुद्धिके लिये अपना बल लगाना पड़ता है; अपने बलपर शुद्धि करनी पड़ती है।

( २ ) 'जैसे हो वैसे ही शरण हो जाओ।' जैसे हैं, उनके हैं—ऐसा विश्वासकर सचमुच ही अपने-आपको भगवान्‌की शरणमें अर्पण कर दो, फिर तुम्हारी शुद्धि स्वयं भगवान् करेंगे। जो स्वयं अपनी शुद्धि करना चाहता है, उसको बहुत-से विघ्नोंका सामना करना है। निश्चय भी नहीं कि शुद्धि हो ही जाय और होगी भी तो बहुत समय लगेगा।

जिसकी शुद्धि भगवान् करते हैं, उसमें कोई विघ्न नहीं आता। उसमें अशुद्धिका एक कण भी शेष नहीं रह सकता। शुद्धि शीघ्र होती है तथा शुद्धि निश्चित है। ×××× शुद्धिके जितने भी बाहरी साधन हैं, सभी संदेहयुक्त हैं। कभी-कभी तो शुद्धि करने जाकर मनुष्य और भी अशुद्ध हो जाता है। भाँति-भाँतिके अभिमान, मद मनुष्यको अभिभूत कर लेते हैं और वह समझता है कि मैं शुद्ध हो गया। इसलिये किसी भी बाहरी उपायपर निर्भर न करके

एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर हो जाओ। वास्तवमें जो साधक अप आपको भगवान्‌के अर्पण करना चाहते हैं, उनको यह देखने आवश्यकता नहीं कि हम कैसे हैं, उन्हें तो देखना चाहिये कि भगवान् कैसे हैं। हम पापके पहाड़ हैं, पर भगवान् अनेक पहाड़ोंको अपने अंदर डुबा लेनेवाले महासमुद्र हैं।

२५–*प्रश्न*–जब सब कार्य भगवान्‌की प्रेरणासे होते हैं, त कर्मका शुभाशुभ भोग क्यों मिलता है?

*उत्तर*–जीवोंको कर्मका दण्ड नहीं मिलता। जीव भगवान्‌की प्रेरणाको भूलकर अपने-आप कर्ता बन बैठते हैं, इस दुरभिमानताका ही उन्हें दण्ड मिलता है। भगवान् ही सब कुछ करवाते हैं—यह भाव यथार्थ रूपसे होनेपर अशुभ रहता ही नहीं। और यदि शुभाशुभ रहे तो भी दायित्व भगवान्‌का हो जाता है। कर्तापन होनेपर ही कर्म बनता है और कर्म बननेपर ही कर्तापर जिम्मेवारी आती है।

२६–गुरु-आचार्य वही हैं, जो सच्चा रास्ता बतावें, जो अन्धेकी लकड़ी पकड़कर ठीक रास्तेपर लगा देवें।

२७–शिष्यका–अनुगमन करनेवालेका, बस इतना ही काम है कि वह अपनी लकड़ी गुरुके हाथमें पकड़वा दे। चलना ैसे ही होगा, जैसे वह (गुरु) चलावेगा। चलना कैसे, किस मार्गसे, किस गति (Speed) से ये सब बातें वह सोचे, जिसके हाथमें लकड़ी है। पर सबसे कठिन काम यही—लकड़ी सौंपना—है। आजकल शिष्य अपनी लकड़ी खींचना चाहते हैं—चाहे उसके साथ गुरु भी खिंचे चले आयें और गिर जायें।

२८–गुरुका एक ही कर्तव्य है कि या तो वह किसीकी लकड़ी पकड़े नहीं, यदि पकड़े तो जितना वह जानता है (यह आवश्यक नहीं कि गुरु सब जाननेवाला हो। प्राइमरीका मास्टर पी-एच० डी०

नहीं होता। बस, वह तो प्राइमरीको पढ़ा सके इतना ही पर्याप्त है ) उतना शुद्ध नीयतसे शिष्यको समझा दे, सिखा दे।

२९—जो कुछ सीखे; उसपर अन्धेकी तरह—परम श्रद्धाके साथ बढ़ चले। जबतक अपनी आँखें काम करती हैं, तबतक वे गुरुकी आँखोंमें दखल करती रहती हैं। पर अन्धा होनेके पहले कुछ कसौटीकी आवश्यकता है। कहीं अन्धेके हाथमें लकड़ी देकर अन्धा न बन जाय। ऐसा होगा तो दोनों ही गड्ढेमें गिर पड़ेंगे।

३०—गुरुका अर्थ परीक्षा दिया हुआ या कान फूँकनेवाला नहीं। गुरु वही जो ठीक-ठीक मार्ग दिखावे, जिसके द्वारा हम आगे बढ़ सकें। जिसको हम गुरु मानें, वह गुरु; जो कहे—हम तुम्हारे गुरु, वह हमारा गुरु नहीं। ( इस दृष्टिसे ) घड़ी आदिको भी हम गुरु मान सकते हैं।

३१—यद्यपि संतकी कोई पहचान नहीं कर सकता। पहचानमें बड़ी गड़बड़ी है। कोई संत आये और कहने लगे—सागमें नमक नहीं। हमने झट कह दिया—'संत नहीं, खानेमें आसक्ति है।' पर ऐसी बात नहीं। महात्माओंकी पहचान ऊपरसे नहीं होती। वे नियमोंसे परे होते हैं, नियमोंसे बाध्य नहीं होते। पर फिर भी एक बात है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, उनके द्वारा सत्-क्रिया ही होती है, उनके द्वारा बुराई कभी होती ही नहीं।

३२—तीर्थमें तीर्थत्व देनेवाले महात्मा होते हैं। भूमिको पावन बनानेवाले महात्मा होते हैं।

३३—जिसके पास रहनेसे दैवीसम्पत्तिकी वृद्धि हो, भगवान्‌की ओर मन जाने लगे, बुराइयाँ मिटने लगें तो समझना चाहिये कि हम

तो जाते हैं, पर अभी हमने उसके हाथमें लाठी पकड़वायी नहीं
अपने-आपको उसके हाथमें सौंपा नहीं है ।

४३—महात्मा भगवान्‌के स्वरूप हैं । यदि महात्मा एवं भगवान
बीच प्राकृत जगत्‌का आवरण पड़ा हो तो वे महात्मा कैसे ? वे
दोनों ( महात्मा और भगवान् ) घुल-मिलकर एक हो जाते हैं

४४—महात्माका बिना जाने मिलन भी संसार-बन्धनसे मुक्त होने
कारण है—यह अत्युक्ति नहीं है, सचमुच महात्मासे मिलनेपर महात्माक
स्वाभाविक शक्तिसे हम हठात् परमार्थ-पथपर आरूढ़ हो जायँगे ।

४५—महात्माओंका महात्मापन स्वयं महात्माओंसे भी छिपा रह
सकता है ।

४६—महात्माओंका मिलन देर-सबेर भगवत्प्राप्ति करा देनेवाला
है । पर जो महात्माओंको जान लेते हैं, वे तो वैसे ही हो जाते हैं ।
जिसने महात्माको जान लिया, वह महात्माके अनुकूल हुए बिना नहीं
रह सकता । यदि जीवनमें अनुकूलता-प्रतिकूलता हो तो वहाँ जानने-
का आभास है, असलमें जाना नहीं है ।

४७—महात्माके द्वारा होनेवाला प्रत्येक कर्म भगवत्प्रेरित होता
है । उसमें कोई दोष नहीं होता, द्वेष नहीं होता, पर कहीं-कहीं
दोष मालूम होता है । वह इसीलिये कि हमको महात्माकी आँखें
नहीं मिली हैं ।

४८—संत समतासम्पन्न होते हैं, दुःखराज्यसे बाहर होते हैं,
पर दूसरेका दुःख देखकर उनका हृदय दुखी होता है, वे द्रवित हो
जाते हैं । वास्तवमें वे पर-दुःख-दुखित हैं ।

४९—संतके महत्त्वकी इयत्ता करना—यह तो असीमको सीमा बाँधकर उसको छोटा करना है ।

५०—संतोंका संग पावनको भी पावन करनेवाला है । जहाँ वे रहें, वह तीर्थ; जो कुछ वे कहें, वह शास्त्र । संतोंकी महिमा संत जानें या भगवान् जानें । भगवान् भी संतोंकी महिमा कहते-कहते सकुचा जाते हैं ।

५१—संत वास्तवमें भगवान्के संदेशवाहक हैं; भगवद्भावोंका सहज ही आचरण करनेवाले और प्रचार करनेवाले हैं ।

५२—जगत् संतसे शून्य कभी होता नहीं ।............संतके शरीरसे, मनसे जो कुछ भी परमाणु जगत्में फैलते हैं, उनसे जगत्का कल्याण अपने-आप होता रहता है ।

५३—संतकी वाणीका सीधा संस्पर्श हो जाय—देख सकें, सुन सकें, पढ़ सकें, मनन कर सकें—तो कहना ही क्या; किंतु यदि केवल सुन ही सकें तो उसका फल भी अमोघ है ।

५४—सबसे बड़ा लाभ है भगवत्प्रेम । यह सचमुच संतकी कृपासे ही मिलता है । इस परम पुरुषार्थकी प्राप्ति और किसीसे नहीं हो सकती ।

५५—संतकी रुचिका अनुसरण करना चाहिये, केवल आज्ञाका ही नहीं ।

५६—संतके चरणोंका मन-ही-मन ध्यान करना । ( चरणोंका परिसेवन मनके आभ्यन्तरिक स्थलमें किया जाय तो इसमें न तो कोई हानि है और न यह प्रत्यक्ष चरणसेवनसे कुछ कम ही है । )

५७—संतसे मन-ही-मन प्रार्थना की जाय।

५८—यह भाव दृढ़ करे कि संत सदा मेरे साथ है और निरन्तर मेरी प्रत्येक क्रियाको देखता है और मुझे अपनाये हुए है।

५९—यह अनुभव करे कि संतकी कृपा मुझपर बरस रही है। उसकी कृपासे मेरे अंदर दैवी भाव आ रहा है ( इससे संतके हृदयका दैवी भाव अपने अंदर बड़ी शीघ्रतासे आता है। )

६०—संतकी शरीर, वाणी और मन—तीनोंसे सेवा करे।

## कायिक सेवाका स्वरूप

संतकी रुचिके अनुकूल अपने शरीरको अर्पण कर दे; संतको शरीरके सम्बन्धमें निःसंकोच कर दे। अपने शुद्ध व्यवहारसे संतके मनमें यह भाव जगा दे कि वह इस शरीरको चाहे जिस तरह बरते। अपना काम चाहे वह न करावे, पर वह उसे किसी और काममें लगा दे। इस प्रकार करनेसे आगे चलकर व्यक्तिगत सेवा भी प्राप्त हो सकती है। शरीरसे सेवा करनेपर ( स्वयं संतके ) शरीरकी सेवा भी प्राप्त हो जाती है।

## वाचिक सेवाका स्वरूप

अपनी वाणीको संतके अनुकूल बना दे। संतके हृदयमें यह विश्वास जमा दे कि 'मेरी इच्छाके विरुद्ध इसकी वाणीसे कोई चीज निकलेगी ही नहीं।' इस अवस्थामें संत उसे अधिकार दे देता है कि मेरी ओरसे, मेरे प्रतिनिधिकी तरह, तुम चाहे जो करो। फिर जिस प्रकार संत अपनी वाणीसे कल्याण करता है, उसी प्रकार संतका प्रतिनिधि बनकर वह अपनी वाणीसे जगत्का कल्याण कर सकता है।

## मानसिक सेवाका स्वरूप

अपने मनको संतके इतना अनुकूल कर दे कि संतको यह अनुभव हो कि इसका मन तो मेरे मनका प्रतिबिम्ब ही है ।

६१—हम चाहे जहाँपर हों, किंतु यदि सच्चे हृदयसे यह भावना करें कि संत हमारे साथ हैं, हमें बुरे कर्मोंसे बचाते हैं, तो चाहे स्वयं संतको इस बातका पता न चले, परंतु वह परोक्ष-रूपसे ( प्रत्यक्षकी भाँति ही ) हमारे पास पहुँचता है, हमें सहायता पहुँचाता है, सलाह देता है और बुरे कर्मसे बचाता है ।

६२—संतोंके पास रहते हुए भी हमारी उन्नतिमें रुकावट क्यों आती है ?—हम हमारी बुद्धि, हमारी चेष्टा, हमारा विचार लादना चाहते हैं उसके ( संतके ) विचारपर, उसके संकेतपर ।

६३—हमने एकान्तमें बैठकर कोई बात संतसे कही, संतको इस बातका बिल्कुल ज्ञान नहीं है, परंतु भगवत्प्रेरणासे इस बातका उत्तर उसके हृदयमें आ गया । इसे वह या तो हमें कह देगा या लिखकर भेज देगा या हमारे मनमें कह देगा ( जैसे हमने दूर बैठकर यह भाव किया कि हम भगवान्की किस मूर्तिका ध्यान करें । संतके मनमें यह बात आयेगी कि उसको यह बात बतानी चाहिये कि 'वह किस मूर्तिका ध्यान करे ।' इसे या तो वह कह देगा या लिख देगा या हमारे मनमें यह भाव स्वतः ही आ जायगा कि अमुककी उपासना करनी चाहिये । यही नियम अन्य बातोंपर लागू होता है ) । हमारे मनमें उसका उत्तर अपने-आप ही आ जायगा, मानो कोई अंदर-ही-अंदर प्रेरणा कर रहा हो । यह क्रिया अपने-आप होती है; क्योंकि संतका सारा सम्बन्ध

भगवान्‌से होता है। जहाँ हमारे मनमें भगवद्भावके अतिरिक्त अं कोई लाग-लपेट नहीं होती, वहाँ सब भार भगवान् सँभालते हैं वे दोनोंके हृदयमें रहकर सब काम कर देते हैं। बेतारके तारव भाँति तुरंत संतके हृदयमें हमारी बात पैदा होती है। उधर भगवान के साथ भी उसका इस प्रकारका बेतारका तार चलता रहता है अतएव उत्तर भी इतना यथार्थ होता है कि हम चकित रह जाते हैं

६४—प्रत्येक व्यक्तिमें दो प्रकारकी विद्युत्-शक्ति होती है—एक खींचनेवाली और एक फेंकनेवाली। जिसमें जो चीज होती है, उससे वही चीज बाहर आती है। संतमें है केवल भगवद्भाव। अतः उसके शरीरसे निरन्तर भगवद्भावके परमाणु ही निकलते रहते हैं।

हाथोंकी अंगुलियोंके पेरवों और चरणोंके पेरवोंसे विद्युत्के परमाणु विशेष मात्रामें बाहर निकलते हैं तथा पैरके अंगूठेसे तो वे सबसे अधिक निकलते हैं। इसीसे भगवान्‌के चरणनखकी ज्योतिकी पूजाका विधान बहुत मिलता है। सहस्रार और हृदय—ये दो चुम्बकके स्थान माने गये हैं। इन दोनों जगह बाहरके परमाणु विशेषरूपसे खींचे जाते हैं। भक्त लोग प्रार्थना किया करते हैं कि भगवन्! अपने चरण हमारे मस्तकपर रख दो, हमारे हृदयपर रख दो। लक्ष्मणजी भगवान् रामके चरणोंको अपने-हृदयपर धारण करके सोते थे। इतना ही नहीं, चरणके द्वारा जिस धूलिका संस्पर्श होता है, उसके शरीरमें विद्युत्के परमाणुओंका समावेश हो जाता है। अतः जहाँ-जहाँ संतोंके चरण टिकते हैं, वहाँ-वहाँ उसमें उनके शरीरके रहनेवाले विद्युत्के (जो भगवद्भावमय है) परमाणुओंका समावेश हो

जाता है और वहाँकी भूमि पवित्र हो जाती है। संतोंकी चरणरजके विद्युत्-परमाणु भक्तके हृदयके विद्युत्-परमाणुओंसे मिलकर एक ऐसा प्रकाश उत्पन्न करते हैं, जिससे वहाँ भगवान्का स्पष्ट साक्षात्कार हो जाता है।

६५–जैसे जिसके भाव होते हैं, उसके वैसे ही परमाणु नित्य निरन्तर निकल-निकलकर जगत्में फैलते रहते हैं। जहाँ-जहाँ अनुकूल भाव मिलते हैं, वहाँ-वहाँ ( उनको पुष्ट करते हैं तथा स्वयं ) पुष्ट होते हैं और प्रतिकूल भावोंको नष्ट करते हैं ( तथा उनसे दुर्बल होनेपर स्वयं नष्ट होते हैं )। अच्छे संगमें रहनेका यही तो रहस्य है कि वहाँ अच्छे परमाणु प्राप्त होंगे।

६६–प्रत्येक व्यक्तिमें जो चीज होती है, वह उसके बाहर आती है। सजातीय परमाणु उसको बड़ी तीव्रतासे खींचते हैं। विचारोंकी लहरियाँ बाहर जाती हैं और सजातीय लहरियोंको प्रबल करती हैं।

६७–परमाणुओंका बड़ा असर होता है।........कुर्सी, मेज, दीवाल आदिपर भी परमाणुओंका प्रभाव होता है। आप किसी ऐसे मकानमें रहें, जहाँ अधिक दिन मांसाहारी रहे हों तो वहाँ रहनेसे आपके मनमें भी मांस आदिके संस्कार उठने सम्भव हैं।

६८–जानना वही सार्थक है, जो करके जान लिया जाय।

६९–अपनी इच्छाको प्रधानता देना—भजन-मार्गका बड़ा भारी विघ्न है। इससे भगवान्की आत्मीयतामें, भगवान्की सौहार्दता-में विश्वास नहीं रहता।

७०–शुद्ध होनेका बड़ा बखेड़ा है । भगवान्‌के स्वीकार किये बिना हम शुद्ध नहीं होंगे और शुद्ध हुए बिना भगवान् हमें अपनायेंगे नहीं—तब तो हमारा अपनाना कभी होगा ही नहीं । पर बात ऐसी नहीं है । माँकी गोद बच्चेकी शुद्धि नहीं चाहती, वह तो बच्चेका आकर्षण चाहती है । बच्चेके आकर्षणसे माँ दौड़कर आयेगी और उसे उठा लेगी तथा फिर अपने-आप उसे धो-पोंछकर निर्मल भी बना देगी । अतः बच्चा बनना चाहिये । शुद्धिके फेरमें पड़े रहना बड़े लम्बे रास्तेको पकड़ना है ।

७१–इस प्रकृतिस्थ शरीरका क्या स्वस्थ होना है; यह तो सर्वदा अस्वस्थ ही है । जन्म-मरण, जरा-व्याधि इसके लगी ही रहती हैं । नित्य एक रस तो आत्मा है, वह सदा स्वस्थ है, उसमें कोई विकार नहीं । यह शरीर जब मर सकता है और मरता है, तब इसमें व्याधि-जरा आदि भी हो सकती है ।

७२–जो परिस्थिति हो, उसीका सदुपयोग कीजिये और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं ।............बस, निश्चय रखिये—भगवान् जो करा रहे हैं, वही करा रहे हैं । अपनेपनका अभिमान क्यों लाते हैं ? सांसारिक दृष्टिमें जब एक छोटे बालकको बुद्धिमान् पुरुष एक सेर, दो सेर, पाँच सेर ही उठानेको कहेगा—मन-दो-मन नहीं, तब बुद्धिके परम कारण भगवान् तो सब जानते हैं । वे कब कहेंगे, यह करो, वह करो, जो तुम्हारी सामर्थ्यके बाहर हैं ।......................वे तो कहते हैं—जितना तुम कर सको आसानीसे करो । पर करो ईमानदारीसे । उसमें कुछ बचाकर—छिपाकर मत रक्खो ।

७३—भगवन्नामकी वास्तविक महिमा क्या है, कोई कह नहीं सकता; वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। नामकी महिमा लोगोंने जो गायी है, वह तो कृतज्ञ-हृदयके उद्गारमात्र हैं। अर्थात् जिन महापुरुषोंको नामसे अशेष लाभ हुए हैं, उन्होंने उन अशेष लाभोंको लक्ष्यमें रखकर भगवन्नामकी महिमा गायी है।

७४—नामके विषयमें इसके आगे क्या कहूँ, तुलसीदासजीने कलम तोड़ दी—

**राम न सकहिं नाम गुन गाई।**

७५—जो लोग सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही भगवत्कृपा मानते हैं, वे दीन हैं।

७६—हमारे देहका बीज है हमारे कर्म और यह बना हुआ है उन पदार्थोंसे, जो प्रकृतिके विकार हैं। इसमें देह और देहीका भेद है। एक देहका कर्मफल पूरा होनेसे जीवात्मा उस देहसे अलग हो जाता है और अपने अन्य कर्मोंके अनुसार दूसरे देहको प्राप्त होता है। पर भगवद्देह कर्मजन्य नहीं है; किंतु साथ ही वह देखनेमात्रका ही नहीं, वह नित्य है, सत् है, वह जन्मने-मरनेवाला नहीं; वह अविकारी है। उसमें देह-देहीका भाव नहीं। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। जिसके जन्मका मर्म जान लेनेपर जाननेवालाका जन्म होना बंद हो जाता है, वह बड़ा अनोखा जन्म है और जिसके कर्मोंका मर्म जाननेसे अनन्त कर्म-बन्धन कट जाते हैं, वे कर्म भी अनोखे ही हैं। भगवान्का स्वरूप प्रकट होता है, बनता नहीं।

७७—जहाँ हम भगवान्के स्वरूपको मानते हैं, वहाँ धामको मानना ही होगा। जब स्वरूप नित्य है, तब धाम भी नित्य है,

अनिर्वचनीय है। उसका रहस्य भी उतना ही गुप्त है, जितना नामका और स्वरूपका।

७८—भगवान्‌के विषयमें जो कुछ वर्णन है, वह हमारे लाभ लिये, हमारे उद्धारके लिये, तो ठीक है, पर यह कोई नहीं क सकता कि वह बस, उतना ही है। भगवान्‌की कृपा होने उनका उतना रहस्य, जितना वे चाहते हैं, भक्तके सामने प्रक होता है।

७९—भगवान्‌को जिसने जब जान लिया, उसके बाद भगवान्‌में प्रवेश कर गया। भगवान्‌के साथ उसका ऐसा ऐक्य गया कि वह फिर बताता नहीं कि भगवान् ऐसे हैं, भगवान् प्रभाव ऐसा है।

८०—लौकिक जेलखानोंकी भाँति नरकमें पाप नहीं बनते वहाँ पाप-फलभोग होता है, नवीन पाप नहीं होता। नरकके प्रा अपने कियेपर पछताते हैं और आगे वैसा न करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं

८१—शुद्ध भावोंका, शुद्ध विचारोंका, शुद्ध कर्मोंका आध है भगवद्भाव। भगवद्भाव मूल है और वे सारे उसके शाखास्वरू हैं, पल्लवस्थानीय हैं। बिना भगवद्भावके शुद्ध विचार मनमें कभ टिक नहीं सकते।

८२—असली जप, असली पाठ वही है, जिसमें चित्त तदाक हो जाय।

८३—मनमें यदि भोग है तो मन्दिरमें जाकर भी हम भोगों ही पूजेंगे। वहाँ जाकर हम केवल देखेंगे—भगवान्‌के क्या गहन है, कैसी पोशाक है।

८४—'क्यों, क्या, कब छूटे बिना निर्भरता होती ही नहीं, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम आलसी बन जायँ। आलस्य तो तमोगुण है और निर्भरता सत्त्वगुणका विशिष्ट स्वरूप।

८५—निर्भरा भक्तिमें कुछ करना नहीं पड़ता। बस, केवल निर्भरताको अपने जीवनमें उतारना पड़ता है। इस भक्तिमें हमारे सामने आदर्श है शिशु। XXX छोटा बच्चा माकी मारसे बचनेके लिये भी माकी ही गोदमें घुसता है। जो इस प्रकार निर्भर है भगवान्‌पर, वही वास्तविक निर्भर है।

८६—शरणागति बिना निर्भरताके नहीं हो सकती। कोई साधन, कोई विवेक, कोई कार्य शरणागतिमें अपने पास न रह जाय।....शरणागत सब बातोंसे मुक्त है, पर है वह परतन्त्र—अपने स्वामीका सदा सेवक। उसने अपने आपको अपने स्वामीके हाथों बेच दिया है और इस भगवत्परतन्त्रताको वह किसी वस्तुके एवजमें—किसी भी मूल्यपर बेचना नहीं चाहता। वह अपने इस पारतन्त्र्यको बहुत ही उत्तम वस्तु मानता है, वह उसे निरन्तर चाहता रहता है।

८७—भगवान्‌की आवश्यकता बढ़नेसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होता है। जितनी आवश्यकता बढ़ेगी, उतनी ही साधना होगी—यह सिद्धान्त है, इसको कोई काट नहीं सकता। जब धनके लिये लोग आवश्यकता समझते हैं, तब घर छोड़ते हैं और आजकल तो धर्म भी छोड़ते हैं, यहाँतक कि ईश्वरको भी छोड़ देते हैं। इसी प्रकार ईश्वरकी आवश्यकता होनेपर कोई भी चीज बाधा नहीं दे सकती। सभीका त्याग अनायास हो जायगा। आवश्यकता होनेपर अपनी ओरसे यथासामर्थ्य साधन होगा ही। यथासामर्थ्य साधन

करनेपर भी भगवान् न मिलेंगे तो भयानक तड़पन होगी और वह तड़पन ही भगवान्‌को मिला देगी—बस, यही कहना है।

८८—भगवान्‌के गुणोंका, लीलाओंका, उनके चरित्रोंका अध्ययन-मनन कीजिये और नामका जप कीजिये, भगवान्‌की चाह अपने-आप बढ़ती जायगी।

८९—गोपियोंकी आँखोंके सामने जो भी आवे, वह श्यामसुन्दर ही आवे! गोपियोंकी आँखोंमें श्रीकृष्णका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है।

९०—साधनासे पहले मन बदलता है, फिर आँखें और फिर तमाम वस्तुओंमें वस्तुओंका दीखना बंद हो जाता है और उनकी जगह भगवान् दीखने लगते हैं।

९१—जिस समय कोई युगावतार होता है, उस समय उसीके साथ-साथ जगत्‌में कुछ विलक्षण विभूतियाँ भी अवतीर्ण हुआ करती हैं, जो भस्मसे ढकी हुई अग्निकी तरह स्थान-स्थानपर छिपी रहती हैं; परंतु समयपर अवतारी पुरुषका संकेत मिलते ही प्रकाशमें आकर अपना पावन कार्य करने लगती हैं।

९२—जबतक मनुष्यका ( धन, जन और पदमर्यादा आदि ) विषय-बलपर भरोसा रहता है, तबतक उसे भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती; परंतु जब वह संसारके समस्त विषयोंका बल छोड़कर एक भगवान्‌के प्रबल बलपर भरोसा कर लेता है, तब सफलता तत्काल ही उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है।

९३—जबतक संसारका मायामय घर अपना घर मालूम होता है, तबतक असली घर दूर रहता है।

९४—जब मनुष्य अपने सारे छल-कपटको छोड़कर अत्यन्त दीन भावसे उन दीनबन्धु पतितपावन परमात्माकी शरण लेना

९६—भगवत्कृपाका अधिकारी वही है, जो किसी पूर्वजन्मके सत्कर्मके फलस्वरूप किसी संतका सङ्ग प्राप्त कर ले।

९७—भगवान्‌का या भगवान्‌के किसी भक्तका अपराध होने-पर जीवन्मुक्त भी भव-बन्धनमें आ सकते हैं। भक्तोंका यह स्वभाव है कि वे किसीको बन्धनमें डालना नहीं चाहते, पर भगवत्प्रेरणासे बन्धन हो जाता है।

९८—कालक्षेप वह है, जिसमें भगवान्‌की चर्चा हो; अन्यथा तो झगड़ा है।

९९—नित्यसिद्धा प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं—यशोदा मैया। यशोदा मैया नित्यजननी हैं श्रीकृष्णकी और श्रीकृष्ण नित्यपुत्र हैं यशोदाके। यशोदा मैया वात्सल्यप्रेमकी ही घनीभूत मूर्ति हैं; उनमें और चीज है ही नहीं।

*प्रश्न*—श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्यार करना तो यशोदाका अज्ञान है। इस प्रेमसे जब ज्ञान प्राप्त होगा, तभी तो उन्हें भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति होगी न?

*उत्तर*—जो ज्ञान भगवान्‌को अलग रक्खे, जो ज्ञान भगवान्‌को अगोचर बताकर उन्हें न देखने दे, जो ज्ञान भगवान्‌को न सुनने

दे, न स्पर्श करने दे, वह ज्ञान अच्छा कि यशोदाका यह अज्ञान अच्छा, जिसने भगवान्‌को प्राकृत बालककी भाँति पकड़ रक्खा है ? जगत् भगवान्‌के पीछे चलता है, पर भगवान् यशोदा मैयाके पीछे चलते हैं।

१००—भगवान् जिन वैरियोंको मारते हैं, उनको सुगति देते हैं। भगवान् कितने दयालु हैं—मारकर भी तारते हैं, तारनेके लिये ही मारते हैं।

१०१—भगवान्‌को पूर्णरूपसे अनुभव करना शुद्ध प्रेमी ( रागात्मक ) भक्तोंके लिये ही सम्भव है।

१०२—जीवका स्वरूप, जीवकी मुक्ति-प्राप्ति कभी किसीके प्रत्यक्ष नहीं होती—यह सिद्धान्त है। किंतु यदि इस सिद्धान्तके अनुसार अदृश्य जीव-चैतन्य अदृश्य सच्चिदानन्दघनतत्त्वमें लीन हो जाय तो यह धारणा कैसे होगी कि श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्मतत्त्व हैं, वे जीवोंकी चरम गति हैं। इसी बातको प्रकट करनेके लिये श्रीकृष्ण अपनेको मारनेके लिये आनेवाले शत्रुओंको भी प्रत्यक्षरूपसे अपनेमें लीन कर लेते हैं।

१०३—भगवान्‌की साक्षात् सेवा सहजमें प्राप्त नहीं होती, इसीलिये उनकी प्रतिमाकी पूजा होती है। उनकी अष्टविध किसी भी प्रतिमाकी अर्चना करके भक्त सिद्धि प्राप्त करते हैं। सचमुच बाह्यसेवाकी बड़ी आवश्यकता है। इससे बड़े-बड़े कार्य हो जाते हैं। श्रद्धायुक्त साक्षात् भगवान् मानकर जब प्रतिमाकी पूजा होती है, तब उससे भगवान्‌का बार-बार चिन्तन होता रहता है। जो बाह्यसेवाके उपकरण जुटानेमें असमर्थ हों तथा जिनका भगवान्‌में

मन लगता हो, वे मानस-सेवा कर सकते हैं। पर जो समर्थ हों और जिनका मन न लगता हो, वे यदि बाह्यपूजा छोड़ दें तो वे अवश्य गिरेंगे। जो सम्पत्तिशाली भक्त हैं, उनको पूरे उपचारोंके साथ भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। यह कल्याण-प्राप्तिका सीधा मार्ग है। जो अपने भोगोंके सञ्चयमें तो खूब खर्च करते हैं, पर भगवान्‌के लिये यह सोच लेते हैं कि वे तो भावके भूखे हैं, वे ठीक नहीं करते। इसी प्रकार नौकरों आदिसे भगवान्‌की सेवा करवाना भी निकृष्ट है। ऐसा कराना न करानेसे अच्छा है, पर निम्न श्रेणीका है। गृहस्थके नित्य कर्तव्योंका मूल है—भगवत्सेवा। भगवान्‌की अर्चना धर्म-वृक्षका मूल है, अतः उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये।*

१०४—कोई भी हो—जो भगवान्‌के निकट एवं सामने बैठना चाहे और जिसको ऐसा न होनेपर प्राणान्त दुःख हो, वह चाहे जहाँ रहे, जैसे रहे, भगवान्‌का मुख उसके सामने है, भगवान् उसके अति निकट हैं। भगवान् अपने सेवाकाङ्क्षी भक्तोंके सामने नित्य रहते हैं और उनके निकट रहते हैं।

१०५—भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर भी भक्तवत्सलतासे ज्ञानको छिपा लेते हैं। जिनकी इच्छासे, जिनके शासनसे अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड सञ्चालित होते हैं, वे ही भगवान् प्रेमी बालकोंके प्रेमसे बछड़ोंके लिये बेसुध हो जाते हैं। उनमें कुछ शक्ति भी है, इसका उनको पता न रहता। वे प्राकृत अज्ञ बालककी भाँति

---

* भक्त प्रह्लादने तो यहाँतक कहा है कि जिस घरमें भगवान्‌की प्रतिमा नहीं, वह श्मशानके समान है।

उनको ढूँढ़ने चल पड़ते हैं। उनकी यह लीला बड़ी चमत्कारपूर्ण है। वे सर्वाकर्षक एवं परमानन्दस्वरूप होकर भी बछड़ोंके प्रेमसे स्वयं आकृष्ट हो जाते हैं और उनको खोजनेके लिये निकल पड़ते हैं।

१०६—बड़े-बड़े श्रोत्रिय वेद-ऋचाओंके द्वारा भगवान्‌को नाना प्रकारकी अमूल्य वस्तुएँ भोग लगाते हैं, तो भी भगवान् उनको प्रत्यक्षरूपमें स्वीकार नहीं करके परोक्षरूपमें ग्रहण करते हैं। पर वे ही सर्वयज्ञभोक्ता, यज्ञपुरुष भगवान् प्रेमाधीनतावश परम आग्रहके साथ सराह-सराहकर गोपबालकोंकी उच्छिष्ट—भुक्तावशिष्ट वस्तुओंको आनन्दपूर्वक माँग-माँगकर खाते हैं। असलमें यह जूठन नहीं। जूठन होती है तब जब खानेमें अपनी आसक्ति हो, पर गोपबालक तो श्रीकृष्णको खिलानेके लिये उन वस्तुओंको चखते हैं।

१०७—जो लोग भगवान्‌के सायुज्यको प्राप्त हो जाते हैं, वे स्वरूपको तो प्राप्त कर लेते हैं, पर उनमें जगत्‌के सृजन करने आदिकी शक्ति नहीं आती।

१०८—वृक्षके मूलमें यदि जल सींच दिया जाय तो उसकी डालियोंमें, पत्तोंमें अपने-आप जल पहुँच जाता है, डालियों, पत्तोंपर अलगसे जल छिड़कनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार श्रीकृष्ण-से प्रेम करनेपर अनन्त जगत्‌की तृप्ति अपने-आप हो जाती है।

## ( नवम माला )

१—भगवान्‌की स्तुति भगवान्‌की कृपासे, भगवान्‌की प्रेरणासे की जा सकती है।

२—भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेपर किसीमें चञ्चलता नहीं रहती। यदि कोई अपने चञ्चल मनको—चञ्चलता मिटानेकी आवश्यकता नहीं—भगवान्‌के अर्पण कर दे तो वे उसे अचञ्चल करके अपने चरणोंमें स्थिर कर देते हैं।

३—भक्त भगवान्‌के चरणोंका सहारा लेकर भगवान्‌की कृपासे आगे बढ़ता है। भक्तिमें भगवत्-चरणाश्रय प्रारम्भसे ही है; और साधनोंमें अपनी शक्तिसे आगे बढ़ना है। भक्त शिशुकी भाँति भगवत्-चरणाश्रित होता है। उसमें न शुचिता है, न साधना है, है केवल मातृपरायणता।

४—अवतार भगवान्‌के मङ्गल-विग्रह हैं। भगवान्‌के जितने मङ्गल-विग्रह हैं, वे सब-के-सब नित्य हैं, कोई नया बनता है, पहले नहीं था—ऐसी बात नहीं। इनके अलग-अलग दिव्य लोक हैं और समय-समयपर ये प्रापञ्चिक जगत्‌में प्रकट होते हैं। ये सब-के-सब सच्चिदानन्दघन हैं। जीवोंमें देह-देहीका भेद है, शरीरके अंदर चेतन आत्मा दूसरा है। शरीर बनता है पूर्वकृत कर्मोंके कारण पाञ्चभौतिक उपादानोंसे। भगवान्‌का कोई कर्म ऐसा नहीं, जो उनके देह बनानेमें हेतु हो। जीवन्मुक्त महात्माके कर्म भी भुने हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न

नहीं करते। फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या। भगवान्‌का शरीर न तो पाञ्चभौतिक है और न मायिक ही। भगवान् प्रकट होते हैं, उनका शरीर पैदा नहीं होता, वह कभी बनता नहीं, न बिगड़ता है। नित्यका अवसान दीखता है, पर उसका अवसान होता नहीं। भगवान्‌का एक-एक कण, उनके आयुध-आभूषण-वस्त्र आदि सब भगवन्मय हैं—भगवत्स्वरूप हैं।

५—भगवत्कृपा जहाँ साधनको संचालित करती है, वहाँ साधनमें अपार बल आ जाता है और अहंकाररहित सर्वोत्तम साधना होती है।

६—'स्वकर्मणा' भगवान्‌की पूजा तब होती है, जब निरन्तर मनमें यह भावना बनी रहे कि सब भगवान्‌से निकले हैं और सब भगवान्‌में हैं। पर जब यह भावना उड़ जाती है, तब केवल 'कर्म' रह जाता है ( वह भगवत्पूजाका स्वरूप धारण नहीं कर पाता )।

७—प्रेमास्पदकी स्मृति प्रेमास्पदसे कम नहीं है। यदि भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की स्मृतिको भुलानेवाली हो, यदि भगवान्‌की प्राप्ति भगवत्सेवाको छुड़ानेवाली हो तो वह भगवत्सेवकको अभीष्ट नहीं होती।

भगवान्‌की सेवाके लिये भगवान्‌का त्याग कर दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं!

८—यह बात तो माननी ही चाहिये कि भगवान् ग्रहण करके छोड़ते नहीं। पर यदि भजनमें, सेवामें शिथिलता रहती है तो भगवान्‌से यह प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये कि प्रभो! आप बुला लेंगे सो तो ठीक; पर ऐसी कृपा तो और करनी चाहिये कि जबतक आप अपने पास नहीं बुलाते, तबतक आपका भजन निरन्तर होता रहे। प्रभो! ये हमारे दिन जो कटते हैं, वे आपकी विस्मृतिमें कट जाते हैं; आपका

निरन्तर स्मरण नहीं होता और न स्मरण न होनेका दुःख ही होता है। भगवन्! हमारी यह दैन्यपूर्ण स्थिति दूर हो जाय।

९—बिना विश्वास प्रार्थना नहीं होती; प्रार्थना वहीं होती है, जहाँ जिससे हम प्रार्थना करते हैं उसकी शक्तिमें—उसके सौहार्दमें विश्वास होता है। भगवान् हमारी प्रार्थना सुनते हैं और वे सुनते ही हमारी प्रार्थना पूर्ण कर देंगे—सच्ची प्रार्थना होनेमें ये ही दो हेतु हैं।

१०—हमारा प्यार बिखरा हुआ है—हम अलग-अलग सबको [illegible]र करते हैं; एकके नाते करें तो ठीक है। यह प्यार नहीं है, [illegible] तो प्यारका व्यभिचार है। जगह-जगहका प्यार रहे भले ही, [illegible] रहे भगवान्को लेकर, भगवान्के सम्बन्धसे।

व्यभिचारी प्रेमसे भगवान् मिलते नहीं, वे चाहते हैं अनन्य प्रेम।

११—जगत्में ऐसा कोई भी दानी नहीं है, जो अपनेको दे दे। जगत्के दानी तो अपनेको बचाकर चीजें देते हैं; पर भगवान् तो 'आत्मदानी' हैं, वे अपने-आपको भी दानमें दे देते हैं।

१२—जगत्में भगवान्का गान निरन्तर हो रहा है; पर हमारा स्वर उसमें तान नहीं मिलाता—हम अपना अलग स्वर निकालते हैं। हमारे जीवनकी प्रत्येक चेष्टा भगवान्के स्वरमें एकतान हो जाय—बस, इतना ही करनेकी आवश्यकता है।

१३—जीव भगवान्का सनातन अंश है और परम पवित्र है। वह भगवद्रूप ही है। जीवके अन्तःकरणमें स्वाभाविक ही दोष नहीं है; वह दोषशून्य है, पर बहुत लंबे कालसे इन्द्रियोंद्वारा उसमें कूड़ा भरा जाता रहा है, अतः अन्तःकरणपर मैलेकी बहुत-सी तहें लग गयी हैं। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। उनके द्वारा जो कुछ ग्रहण होता है, वह भीतर जाता है और इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं मैलेको ही। प्रायः

समस्त संसारकी आज यही दशा है। कूड़ेकी तह इतनी घनी हो रही है कि उसके नीचे स्थित रत्नकी पिटारी तक हम पहुँच ही नहीं पाते। वृत्तियोंको अन्तर्मुखी भी करते हैं तो भी कूड़ेमें ही रह जाते हैं। इस कूड़ेसे बचनेके दो उपाय हैं—(१) या तो यह कूड़ेका स्तर ऐसा ही बना रहे और हम रास्ता निकाल लें भीतर प्रवेश करनेका या (२) इस कूड़ेको जला दें, जिससे वह रत्नपिटारी अपने-आप प्रकाशित हो जाय। पहले उपायमें कोई गंदगी बने रहनेका भय करे तो यह ठीक नहीं; क्योंकि कूड़ेमेंसे होकर यदि हम प्रकाशके स्थान-तक पहुँच जायँ तो गंदगी अपने-आप मिट जायगी।

१४—भगवत्प्राप्तिके दो मार्ग हैं—(१) कृपाका मार्ग, (२) पुरुषार्थका मार्ग। वैसे कृपामें भी पुरुषार्थ है और पुरुषार्थमें भी भगवत्कृपाका आश्रय रहता है। पर पुरुषार्थके मार्गमें कठिनता अधिक है। कृपामार्गमें भगवान्‌की कृपा हमें आगे-से-आगे मार्ग दिखाती है, कूड़ेको जला देती है और हमें भगवान्‌के पास पहुँचा देती है। किंतु इस कृपाके मार्गमें कठिन बात है—कृपामय सुहृद् भगवान्‌के सर्वथा अनुगत हो जाना। हम भगवान्‌की कृपाका भरोसा करें और जान-बूझकर उनके प्रतिकूल कार्य करें तो यह प्रत्यक्ष है कि हमारा भगवान्‌पर और उनकी कृपापर विश्वास नहीं है। कृपामार्गमें सब कार्य होते हैं भगवान्‌की कृपाके भरोसे और भगवत्प्रेरणासे, अतएव इसमें यह सम्भव नहीं कि कोई कार्य भगवान्‌के प्रतिकूल हो। उसमें न हमें जल्दी करना है, न उकताना है और न अपने बलका विश्वास ही रखना है। साथ ही कर्मविपाकके प्रत्येक भोगको प्रसन्नतासे सिरपर चढ़ाये रक्खें; हृदयसे, वाणीसे और शरीरसे भगवान्‌को नमस्कार करते रहें।

१५–नमस्कारमें बड़ा रहस्य है। पर जितना ही नमस्कार ऊपरसे होता है, वह सच्चा नहीं। नमस्कार वह है, जिसमें किसीके प्रति आदरभाव हृदयमें उमड़ा पड़ता है। ऐसे नमस्कारमें सभ्यताकी पद्धतिकी आवश्यकता नहीं। सचमुच जिसके प्रति हम नमस्कार करते हैं, उसके प्रति हृदय श्रद्धासे भर जाना चाहिये। उसके प्रति ही हृदयसे नमस्कार होता है, जिसकी प्रत्येक बातको हम वास्तविक रूपमें अच्छी समझते हैं और उसका अनुकरण करना चाहते हैं, ( चाहे अनुकरण हो नहीं पावे, पर उसके लिये हृदयमें विचार बना रहता है ) हृदयका नमस्कार वहीं होता है। जिसके प्रति हम नमस्कार करते हैं, उसके प्रति हृदयमें वास्तविक पूज्यताका भाव रहता है; चाहे दिखानेमें वह भाव कभी न आवे।

फिर जब भगवान् सारे जगत्में ओतप्रोत दीखते हैं, तब तो बायें-दायें, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सभी ओर नमस्कार होने लगता है। मन नमस्कारमय बन जाता है 'यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः' या 'सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

१६–पुरुषार्थके मार्गमें बहुत सोचना-देखना पड़ता है; कहीं भूल हुई तो गिर जायँगे। पर कृपामार्गमें भूल हुई तो योगक्षेमका वहन करनेवाला सँभालेगा; चलनेवालेपर कोई जिम्मेवारी नहीं। पुरुषार्थमें चलना होता है अपने बलपर; कृपामार्गमें कृपालुकी कृपाके भरोसे। बच्चा अपनी माकी अँगुली पकड़कर चलता है तो वह कब देखता है कि आगे क्या है? वह सर्वथा निर्भय, निश्चिन्त रहता है; वह तो पत्थर सामने आनेपर भी अँगुली पकड़े खेलता रहता है, तनिक भी विचलित नहीं होता। पर यदि कभी मा न दिखायी दे तो व्याकुल हो जाता

है; किंतु इसमें भी वह व्याकुल होता है माके लिये, पत्थर सामने आ गया है इसलिये नहीं । कृपामार्गका आश्रय लेनेवाला यह मानता है—भगवान्‌की कृपा होगी, अवश्य होगी । 'कब होगी'—इसका उसके पास एक ही उत्तर है—'जब वे कृपा करेंगे ।' वह तो वास्तवमें कृपाकी बाट देखता रहता है । 'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः' और कृपालुको हृदय, वाणी, मनसे नमस्कार करता रहता है ।

१७—कृपाके मार्गमें पाथेयकी चिन्ता भी रखते हैं कृपालु प्रभु ही । रास्तेमें बच्चेको भूख लगेगी तो उसके लिये गठरी बाँधकर रखती है मा । बच्चेको उसके लिये कोई चिन्ता नहीं । पर पुरुषार्थ-मार्गमें सब सामान अपने-आप जुटाकर रखना पड़ता है । सिपाही लोग चलते हैं तो पाथेय आदिकी चिन्ता करके चलते हैं ।

१८—पुरुषार्थ-मार्गमें सावधानी, जिम्मेवारी और अपनी चिन्ता अपने-आप करनी पड़ती है । अतः बहुत-सा समय इसीमें चला जाता है । और साथ ही, यदि कहीं भटक गये, गिर गये तो उठानेवाला कोई नहीं; क्योंकि किसीने अँगुली नहीं पकड़ रक्खी है । कृपाके मार्गमें इन बातोंका भय नहीं ।

१९—पुरुषार्थका मार्ग स्वतन्त्रताका है, कृपामार्ग परतन्त्रताका । पर इस परतन्त्रतामें ही मजा है, निश्चिन्तता है, स्वाद है । कुछ भी हो, दोनों मार्ग ले जाते हैं एक ही लक्ष्यपर । दोनों मार्गोंमें एक बात आवश्यक है—जिस मार्गमें जा रहे हैं, उसी मार्गमें जावें ! मार्ग लंबा है, समय थोड़ा । अतः चलनेमें जल्दी करनी चाहिये । जहाँतक केवल भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन न हो; वहाँतक कूड़ेमें ही हैं । अतः कूड़ेकी सब तहोंको पारकर अन्तःकरणमें पहुँचना है ।

२०—बच्चा तो निरन्तर माके अनुगत रहता है। कहीं भय दीखता है तो वह उससे बचनेके लिये माकी ही गोदमें मुँह छिपाता है। वह और क्या करे? माके सिवा और किसीको जानता ही नहीं। कृपामार्गके पथिककी भी यही दशा होती है।

२१—कृपाके मार्गमें अनुगतता है, पुरुषार्थके मार्गमें सावधानी। 'अनुगत होकर काम करना क्या है?'—जैसे हम अपने अनुगतोंको अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं—वे हमारी सेवा करें, हमारी बात मानें, हमारी इच्छा रक्खें आदि—ठीक उसी प्रकार हम भगवान्‌के अनुकूल हो जायँ। अनुगतताका परिणाम सदा परम मङ्गलमय होता है। पर हम अनुगत न होकर भगवान्‌को अपने अनुगत बनाना चाहते हैं। यही तो हमारी भूल है।

२२—परतन्त्रता दुःखदायी है, परंतु इसमें जो जिम्मेवारी नहीं; यह सुखकी चीज है। इसीको प्रपत्तिमार्ग भी कहते हैं। इस मार्गमें जितनी परतन्त्रता बढ़ी हुई है, उतनी ही साधना बढ़ी हुई है। तथा स्वतन्त्रता जितनी अधिक बढ़ी हुई होती है, साधनामें उतनी ही कमी होती है।

२३—जो भगवत्कृपापरवश हो गया, जिसने अपनी स्वतन्त्रता भगवत्कृपाके हाथोंमें बेच दी, वह सबकी परतन्त्रतासे छूट गया। प्रभुके गुलाम होनेसे सबकी गुलामी छूट जाती है। जैसे मनमें आता है, इस समय अमुक भोग भोगना चाहिये, पर वह भगवान्‌के परतन्त्र है, अतः भगवदिच्छाके विरुद्ध उसे नहीं भोग सकता और इस प्रकार वह विषयकी गुलामीसे छूट जाता है।

२४—'मालिककी गोत गोत होत है गुलामको' ऐसा तुलसीदासजीने कहा है। मालिककी चपरास लगाकर गुलाम सबपर शासन करता है। इसी प्रकार भगवान्‌का गुलाम बननेसे सबपर शासन करनेकी शक्ति एवं सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

२५—गुलामी उसीका नाम है, जिसमें किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता रहे ही नहीं। जगत्‌की गुलामी बड़ी बुरी, विषयोंकी गुलामी बड़ी बुरी। पर वही गुलामी जब भगवान्‌के सम्बन्धसे हो जाती है, तब वह परम श्रेष्ठ हो जाती है।

२६—चाहे जगत् गुलामीके नामपर गाली दे, पर वास्तवमें सारा जगत् फँसा है विषयोंकी, मानसिक कामनाओंकी गुलामीमें ही। गुलामीका अभ्यास हमारा ज्यों-का-त्यों रहे, केवल मालिक बदल जाय। विषयोंके स्थानपर हम भगवान्‌को अपने स्वामीपदपर आसीन कर दें।

२७—भगवत्कृपाके मार्गमें गुलामी छोड़नी नहीं पड़ती, गुलामीका स्वभाव पलटना नहीं पड़ता; केवल मालिक बदलना पड़ता है।

२८—भगवान्‌का खिंचाव होता है सेवककी ओर ( जो तन, मन एवं वचनसे केवल भगवान्‌की सेवाका ही अभिलाषी है ) और इसीलिये भगवान्‌की कृपा उसपर उतर आती है। बाहरी स्तुति या प्रार्थना आदिसे यह काम नहीं होता।

२९—कृपाका मार्ग निरापद है। उसमें कोई कठिनता है तो यही कि हम परतन्त्र होना नहीं चाहते; इन्द्रियोंकी गुलामी नहीं छोड़ना चाहते। हम भगवान्‌की कृपा चाहते हैं; इस रूपमें कि इन्द्रियोंकी गुलामी करनेका हमें अधिक-से-अधिक अवसर मिलता रहे। यह तो वास्तवमें भगवत्कृपाका तिरस्कार है। भला; जरा सोचें तो

सही, जो कृपापरवश है, वह स्वयं क्या चाहेगा ? उसके लिये तो प्रभु जो करेंगे, वही ठीक है; प्रभु जब करेंगे तभी ठीक है।'

३०–भगवान्‌में ये चार बातें हैं—( १ ) वे मङ्गलमय हैं, ( २ ) सर्वज्ञ हैं, ( ३ ) सर्वशक्तिमान् हैं और ( ४ ) हमारे परम आत्मीय हैं।

भगवान्‌में कहीं अमङ्गल नहीं। उनमें अमङ्गल हो तो वे अमङ्गल दें। जिसके पास जो चीज होती है, वह वही देता है। सूर्यसे अन्धकार माँगे तो वह कहाँसे देगा ? बस, यही बात भगवान्‌की है। वे जो कुछ भी देते हैं, मङ्गलमय ही देते हैं।

कोई कहे 'माना वे मङ्गलमय हैं, पर हमसे मिलते तो नहीं। हमें क्या चाहिये, यह वे जानते नहीं।' तो कहते हैं—वे सर्वज्ञ हैं; उनसे कोई बात छिपी नहीं है।

'कोई सर्वज्ञ तो है, पर यदि उसके पास ऐसी शक्ति नहीं कि जो चाहे सो कर सके, तो उससे हमें क्या लाभ ?' अतएव कहते हैं—वे सर्वशक्तिमान् हैं। वे चाहे जब, चाहे सो कर सकते हैं। उनकी शक्तिको कोई रोक नहीं सकता !

'एक व्यक्तिमें मङ्गल, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता तो है, पर वह हमारे किस कामकी ? वह हमारा काम क्यों करने लगा।'—इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—वे हमारे परम आत्मीय हैं। माता, पुत्र, स्त्री आदि सबसे अधिक ( जिनको हम अपना अत्यन्त आत्मीय समझते हैं ) निःस्वार्थ प्रेमी भगवान् हैं, अतएव वे हमारे मङ्गलका ध्यान सहज ही सबसे अधिक रखते हैं।

यदि हम इन चारों बातोंको ठीक तरहसे जान लें तो तत्काल

अपने-आप भगवान्‌की शरण हो जायँ और हमें उसी क्षण शान्ति भी मिल जाय।

**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥**

३१—साधना करनेवालेको साधक कहते हैं। जो भगवान्‌की साधना करता है, वह भगवत्-साधक कहलाता है। ऐसे साधकोंके मोटे रूपमें तीन भेद होते हैं—

( १ ) मन्द—भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता है, पर अन्य वस्तुओंके लिये जितनी चेष्टा होती है, उतनी भगवान्‌के लिये नहीं। 'सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के लिये चेष्टा करनी चाहिये'—यह बात उसके हृदयमें बैठती ही नहीं। उसने तो कहीं सुन लिया, पढ़ लिया कि भगवान्‌की प्राप्ति करनी चाहिये, अतः उसके लिये उसकी थोड़ी-बहुत चेष्टा होती रहती है। जीवनके बहुत-से कामोंमें उसके लिये यह ( भगवान्‌को प्राप्त करना ) भी एक साधारण-सा काम है। अन्य कामोंसे भी यह कम महत्त्व रखता है। 'जब आज न हुआ तो क्या हुआ, कल कर लेंगे। जब दूसरा काम आवश्यक हो गया, तब भजनका काम आगे कर लेंगे, कभी कर लेंगे, इसमें कुछ हानि थोड़े ही है, परंतु अन्य कामोंमें हानि हो जायगी।' जहाँ ऐसी स्थिति है, वहाँ वह भगवान्‌को चाहता तो है, पर उनमें अत्यन्त गौण बुद्धि है। अतएव उसकी साधनामें भी गौण बुद्धि होती है।

( २ ) मध्यम—मध्यम साधक दोनों ओर खिंचता है—इधर संसारकी ओर भी जाता है, उधर भगवान्‌की ओर भी। रामकृष्ण परमहंसने मन्द साधकको विष्ठाकी मक्खीकी तुलना दी है। वह कभी-कभी मीठेपर भी जा बैठती है, पर यदि उसे कहीं मैला दीख

आया तो वह चट उड़कर मैलेपर जा बैठती है। यही मन्द साधककी बात है। कभी-कभी भगवान्‌की ओर लगता है, परंतु विषय-भोग दीखनेपर तुरंत उनकी ओर दौड़ पड़ता है। पर मध्यम साधकमें यह बात नहीं। वह बीचकी स्थितिमें रहता है। उसकी दृष्टिमें संसारका काम आवश्यक है, पर साथ ही भगवान्‌का भजन भी उतना ही आवश्यक है। भगवान् और संसार दोनोंको वह समान महत्त्व देता है।

( ३ ) उत्तम—उत्तम साधक संसारके काम करता है, पर या तो भगवत्पूजाके रूपमें या अत्यन्त गौण रूपसे। परमार्थ-साधनाका न होना उसे सहन नहीं होता। जैसे मन्द साधकको सांसारिक कामकी हानि सहन नहीं होती, ठीक उसी प्रकार भगवत्-स्मरण छूटना, भजनका छूटना उत्तम साधकको सहन नहीं होता।

उत्तम साधककी दृष्टिमें सांसारिक काम या तो बिल्कुल गौण हो जाते हैं या साधनारूप ही बन जाते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्रीका प्रत्येक कार्य सिद्धान्ततः पतिके लिये होता है; वह पतिके लिये ही जीती है, पतिके लिये ही खाती-पहनती है; वह पतिगतजीवना बन जाती है, उसका स्वतन्त्र कोई काम नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार उत्तम साधकका अपना कोई काम नहीं रह जाता। युद्ध-सरीखे कर्मको भी, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं 'तू मेरे लिये कर'—

**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥**

कर्मोंका भलीभाँति आचरण कर ( समाचर ) पर कर मेरे लिये ही ( यज्ञार्थम् )। उत्तम साधक इसी सिद्धान्तपर चलता है। उसके समस्त कर्म, उसकी समस्त चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होती हैं,

अपना अलग कुछ भी काम नहीं रह जाता। यदि वह इस स्थिति
नहीं पहुँचा है तो भगवान्‌को छोड़कर सब कर्म उसके लिये गौ
हो जाते हैं। वह भगवान्‌का लोभी जब भगवान्‌की प्राप्तिकी चेष्ट
लगता है, तब अन्य सब काम उसके लिये स्वभावतः गौण हो जाते हैं
हुए हुए, न हुए न हुए, विपरीत हुए तो भी बहुत ठीक। ऐ
जान-बूझकर करना नहीं चाहिये, असलमें होना चाहिये। कि
कामके न होनेपर यदि पश्चात्ताप होता है तो समझना चाहिये कि उ
काममें हमारी भगवद्‌बुद्धि नहीं है। सब काम छूट जायँ यह आवश्य
है, पर जबतक उनमें तथा उनके फलमें ममता-आसक्ति है, तबतक
हठपूर्वक छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। ज्यों-ज्यों भगवान्‌के प्रति
आसक्ति बढ़ेगी, त्यों-ही-त्यों भोगोंमें आसक्ति स्वतः ही कम होती जायगी

३२—भगवान्‌में और संसारमें जबतक तुलना-बुद्धि है, तबतक
उत्तम साधकता नहीं आती। हीरेके साथ काँचकी तथा अमृतके साथ
जहरकी तुलना ही नहीं बनती। यही बात भगवान्‌की और संसारकी
है। दोनोंमें एकजातीयता ही नहीं, दोनों एक दूसरेके विपरीत हैं तो
उनकी तुलना कैसे बने ? हाँ, तब एकता होगी, जब संसारको
हम संसाररूप न देखकर भगवत्स्वरूप देख पायेंगे।

३३—पर जबतक जगत् भगवत्स्वरूप नहीं हो जाता, तबतक
उसे छोड़नेका प्रयत्न तो करना चाहिये, पर हठसे नहीं, विवेकसे।
उसकी दुःखदोषरूपता, अनित्यता और भगवान्‌के कारण ही सत्ता-
रूपताको समझाकर हठ करनेसे वह बार-बार दौड़ेगा संसारकी ओर।

३४—त्याग वह है, जिसमें त्यागकी भी बात याद न रहे—त्याग-
का भी त्याग हो जाय। उत्तम साधकसे त्याग होता है स्वाभाविकरूपसे

वह त्याग करता नहीं। हठपूर्वक किया हुआ त्याग टिकता नहीं। जो घरसे ऊबकर संन्यासी होते हैं, वे थोड़े दिनोंमें ही संन्याससे भी ऊब जाते हैं और प्रमाद करके संन्यास-आश्रम तथा वेशको भी कलंकित करते हैं; क्योंकि क्षोभसे, कौतूहलसे, जोशमें तथा ऊबकर जो संन्यास होता है, वह टिक नहीं सकता। अतएव धीरे-धीरे साधना करके त्यागके भावको स्वभावगत बनाना चाहिये, तभी स्थायी त्याग होता है।

३५—जबतक भगवान्‌के नाममें स्वाभाविकता नहीं आ जाती, तबतक उसके लेनेमें थकावट मालूम होती है। उसकी गिनती देखनेकी इच्छा होती है। पर मनुष्य जो श्वास लेता है, उसकी क्या वह कभी गिनती करता है? वह तो स्वाभाविकरूपसे आता रहता है। कहीं क्षणभरको न आवे तो जी घुटने लगता है। इसी प्रकार भजन स्वाभाविक हो जाय—अपने-आप भजन होता रहे और न होनेमें परम व्याकुलता हो। ( तद्विस्मरणे परमव्याकुलता )।

३६—उत्तम साधकोंके द्वारा भजन स्वाभाविक होता है। इसलिये यदि उन्हें भजन छोड़नेको कहा भी जाय तो वे उसे छोड़ नहीं सकते। भजन तो उनके जीवनगत हो गया। जबतक स्वाभाविक न हो, तबतक अवश्य ही अभ्यास करना चाहिये। ज्यों-ज्यों अन्तःकरण शुद्ध होगा, त्यों-ही-त्यों भजन स्वाभाविक होगा और उसमें रसानुभव होगा।

३७—भजनमें रसानुभूति होनेपर वह विशेष प्रिय हो जाता है। स्वाभाविकता एवं रसानुभूति—ये दो चीजें जब भजनमें आ जाती हैं, फिर तो वह छूटता नहीं। रसानुभूति भी करते-करते होती है। भोग भोगनेके पश्चात् नीरसता आ जाती है, पर भजन यदि असली

हुआ तो उसमें कभी नीरसता नहीं आती, उत्तरोत्तर उसका रस बढ़ता रहता है और साथ ही आस्वादनकी आकाङ्क्षा भी बढ़ती है। 'भजनकी भूख मिटती नहीं भजनसे!' एक जीभसे क्या भजन हो,' 'कोटि-कोटि रसना होय तब कछु रस आवै।' आदि बातें कविकल्पना नहीं हैं, सत्य तथ्य हैं। तृप्ति कभी होती नहीं, प्रतिक्षण प्यास बढ़ती है ( प्रतिक्षणवर्धमानम् )—यही स्वरूप है प्रेमका।

३८—उत्तम साधक अपनी साधनामें विघ्न सहन नहीं कर सकता। जिन लोगोंको धन प्रिय है, वे एक पैसेकी भी हानि सहन नहीं कर सकते। एक पैसा भी खो जानेमें मनमें पश्चात्ताप होता है। इसी प्रकार उत्तम साधक साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करनेके लिये सहज ही सदा व्यग्र रहते हैं। साधन-सम्पत्ति किसी प्रकार कम न हो, निरन्तर बढ़ती जाय। साधनामें लोभ हो जाय, जरा-सी भी उसकी हानि सहन न हो।

३९—जगत्‌में सबसे बड़ा पाप है 'भगवद्विस्मरण' और सबसे महत्त्वपूर्ण पुण्य है—'भगवच्चिन्तन।' गीतामें जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है, वहाँ-वहाँ चिन्तनपर जोर दिया है। सब कालमें स्मरण करनेका अभ्यास बहुत बड़ी चीज है। भगवान्‌के नामका स्मरण, रूप-लीला आदिका स्मरण सभी एक वस्तु हैं; क्योंकि भगवान्‌का नाम, रूप, लीला, धाम—सभी चिन्मय भगवान्‌से अभिन्न तत्त्व हैं।

४०—जहाँ ममता होती है, वहाँ आसक्ति होती है और सभी जगह ममत्वका त्याग आवश्यक होता है, पर भगवान्‌में ममत्व करना चाहिये। 'भगवान्‌में आसक्तिका नाम 'प्रेम' है और जगत्‌में आसक्तिका नाम 'काम' है।' जगत्‌की आसक्ति नरकोंमें ले जायगी और भगवान्‌की

आसक्ति संसार-सागरसे तारकर नित्य भगवत्सेवामें नियुक्त कर देगी। भगवान्का विस्मरण जो सहन हो रहा है, इसमें हेतु है आसक्तिका न होना।

४१—प्रेमका यह एक अङ्ग है—प्रियतमके वियोगकी आशङ्कामें चित्तका व्याकुल हो जाना ममत्वकी वस्तुका वियोग सहन नहीं होता। भगवान्में हमारा ममत्व हो जाय तो सब काम बन जाय, फिर उनका वियोग कभी हम सहन नहीं कर सकेंगे! श्रीतुलसीदासजीने—

४२—**जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥**
**सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥**

—बड़ी सुन्दर बात कही है। जननी आदिमें—सबमें हमारी ममताके सूत्र बँधे हुए हैं। 'यह मेरा, यह मेरा'—हमारा रोम-रोम ममतासे बँधा है। तो कहते हैं एक काम करो—ममताके सब सूतोंको सब जगहसे तोड़कर बटोर लो एक जगह और उसकी एक मजबूत डोरी बट लो तथा भगवान्के चरणारविन्दसे अपने मनको इस डोरीसे बाँध लो अर्थात् भगवान्के चरणोंके अतिरिक्त कोई वस्तु अपनी न रहे। इससे क्या होगा? भगवान् अपने हो जायँगे। भगवान्ने अपने बँधनेकी यह सुन्दर युक्ति बतायी है। कहा तो है अपने मनको बाँधे, पर बन्धन तो परस्पर होता है अतः यदि भक्तका मन बँधा तो भगवान्के चरण भी बँध गये। जिसके चरणमें बन्धन पड़ा हो, वह चलने लगे तो गिर जाय। भगवान् कितने कृपालु हैं, अपने चरणोंको बाँधनेका उपाय भी बता दिया। सचमुच 'अनन्य ममता' ही भक्ति है।

४३—प्रेम और आनन्द साथ रहते हैं, कभी इनका विछोह नहीं होता। अपने प्रियतमकी प्रत्येक वस्तु प्रिय होती है, कहीं फटी जूती भी देखनेको मिल जाय तो मनमें प्रेमका भाव उदित होकर आनन्द

उत्पन्न कर देता है। जब भगवान्‌में प्रेम होगा, तब उनके स्मरणमें रसानुभूति होगी; फिर स्मरणको हम छोड़ नहीं सकेंगे। भगवान्‌का सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम आदि निरन्तर बढ़ता रहता है, उसमें आनन्द-ही-आनन्दकी बाढ़ है।

४४—दुःखका मूल ममता है। जगत्‌में सदा कितने आदमी मरते हैं—बड़े-बड़े सुन्दर सुयोग्य व्यक्ति मरते हैं, हम कितनोंके लिये रोते हैं? पर हमारे घरमें किसीकी मौत हो जाय तो उसके लिये हम खूब रोते हैं? क्योंकि उसमें हमारी ममता है। जिसमें ममता नहीं होती, ममतासे विरोधी वैरभाव हो जाता है तो वहाँ उसे लोग मार देते हैं और उसमें उन्हें सुख मिलता है। संसारके विनाशी पदार्थोंमें हमारी कहीं ममता नहीं होगी तो फिर हमें दुःख होगा ही नहीं।

४५—जिसकी जैसी वृत्ति होती है; उसका वैसा स्वभाव होता है। वृत्ति स्वभावसे होती है और स्वभाव वृत्तिसे पहचाना जाता है। पहचान एकान्तमें होती है। ऊपरसे चाहे जैसा वेष रक्खे, पर भीतरका पता एकान्तमें लगता है मनुष्यके स्वभावका—असलमें उसमें वैराग्य है या नहीं; उसे साधनाका उत्साह है या नहीं, इसका पता लगता है एकान्तमें।

४६—भगवान्‌में लग जाना यही सर्वोत्तम भाग्य है; बाकी तो सब कुछ अभाग्य ही है। बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति भी प्राप्त हो गयी, अधिकार भी प्राप्त हो गया, सम्मानका सेहरा भी बँध गया, पर यदि वे सब भगवान्‌के प्रतिकूल हैं तो बहुत बड़ी अभाग्यता है। अतः जीवनमें जो सबसे बड़ी बात करनी है, वह है—'जीवनकी गतिको भगवान्‌की ओर मोड़ देना।'

४७—भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुणमें इतना माधुर्य है कि इसकी कोई सीमा नहीं। जीवके ये ही परम संवल हैं।

४८—भगवान्‌की सेवाके मार्गमें, जहाँ अपने पुरुषार्थकी महत्ता ही नहीं, वासनाका मूल नष्ट हो जाता है।

४९—रहस्यके बिना भागवतमें कोई भी शब्द नहीं है। शुकदेव महाराज जो वर्णन करते हैं वह उनके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है।

५०—श्रीमद्भागवतको विना पढ़े-समझे जो गोपीतत्त्वपर लि लगते हैं, वे बड़ा अनर्थ करते हैं।

५१—भगवान्‌के भोगमें बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उसमें भगवान्‌का प्रसाद है' यह भाव आ गया। सैकड़ों, हजारों अश्व या अग्निहोत्रका फल प्रसादसे प्राप्त होता है।

५२—लीलामयकी लीला-अङ्गिमा परम मनोहर और अत्यन्त है। ब्रह्मादिको भी उसका रहस्य नहीं मालूम होता।

५३—मनुष्यमें शक्तियाँ स्वाभाविक नहीं, वे कर्म, खान-पान, व वरण आदिसे बनती हैं। भगवान्‌में शक्तियाँ स्वाभाविक हैं, वे चिन्मय भगवान् सर्वशक्तियोंके मूल उत्स हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो वल वह आता है भगवान्‌से। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि सब उन्हींके बलसे हैं। बिजली-तूफान उन्हीके बलसे आते हैं। यह बल ऐसा नहीं क्रम-क्रमसे बढ़ता है, यह नित्य है। वे ही (ऐसे दिव्य अचिन्त्या शक्तिसम्पन्न) भगवान् यशोदाके प्रेम-समुद्रके अतलतलमें अपनी शक्तियोंको डुबोकर वात्सल्यरसका आस्वादन करते हैं।

५४—जो सर्वथा अहिंसक है, उसको हिंसक पशु भी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचाते। हमारी हिंसावृत्ति ही हमारी हा कारण बनती है।

५५—कई लोगोंका अन्तःकरण स्वभावतः ही फिसलनेवाला होता है, उनमें थोड़े ही कारणसे आर्तता आ जाती है। वहाँ प्रेमाङ्कुर हो ही; ऐसी बात नहीं। बहुत लोग तो जनताको दिखानेके लिये भी आँसू बहानेका अभ्यास करते हैं। इसका नाम प्रेम नहीं। असली भक्तके प्रेमाश्रुओंकी झलक भक्त और दर्शक दोनोंको कृतार्थ कर देती है।

५६—विश्वास होता है दो बातोंसे—

( १ ) विश्वासी पुरुषोंकी वाणीसे और विश्वासी पुरुषोंके आचरणोंसे।

( २ ) किसी भी प्रकार किये गये श्रीभगवान्‌के अनन्य स्मरणसे।

५७—सत्सङ्ग वह है, जिससे जीवनमें दो चीजें अवश्य पैदा हों—

( १ ) भगवान्‌में दृढ़ विश्वास और ( २ ) दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति। जिससे ये दो वस्तुएँ प्राप्त हों, वह शास्त्र, वह तीर्थ, वह व्यक्ति, वह खान-पान सत्सङ्ग है।

५८—भजन वह है, जिससे अन्तःकरण पवित्र हो और भगवान्‌में अहैतुकी प्रीति हो।

५९—मनुष्यके जीवनमें यदि कोई सम्पत्ति है, जो बटोरनी है, संग्रह करनी है, साथ ले जानी है, तो वह है—'भगवद्विश्वास!'

६०—यह स्वाभाविक है कि जहाँ जो चीज है, उसके सम्पर्कमें आनेसे वस्तु और पात्र दोनोंके अनुसार फल होता है। जितने भी आदमी हैं, जितने भी जीव हैं, वातावरणमें जितनी भी चीजें हैं पात्र और वस्तुकी शक्तिके अनुसार परस्पर एक दूसरेका एक दूसरेपर असर पड़ता है। महापुरुषोंको देखने, स्पर्श करने, स्मरण करने आदिसे

जो फल होता है, वास्तवमें वह महापुरुषोंकी कोई विशेषता नहीं है, वह तो वस्तुका स्वाभाविक गुण है ।

६१–जैसे रोगके परमाणु होते हैं, वैसे ही पाप-पुण्यके भी परमाणु रहते हैं, विचारोंके भी परमाणु रहते हैं । अतः जहाँ जिस प्रकारके मनुष्य रहते हैं, जिस प्रकारके कार्य होते हैं, जिस प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं, वहाँ उसी प्रकारके परमाणु बनते एवं फैलते हैं और वे बहुत समयतक रहते हैं । आकाश और वायुमें भी वस्तुओं और क्रियाओंके संस्कार रहते हैं । आसन और मालाओंका भेद इसी दृष्टिसे है । आसन और मालाका असर पड़ता है व्यवहार करनेवालेपर और व्यवहार करनेवालेका असर पड़ता है आसन और मालापर ।····तीर्थोंकी रज, महात्माओंकी चरणधूलि आदि केवल श्रद्धाकी चीज नहीं है । माना, श्रद्धासे काम होता है, किंतु यहाँपर उपर्युक्त नियम ही प्रधान है ।

६२–जगत्का प्रपञ्च ऐसा है कि वह अँगुली पकड़ते ही पहुँचा पकड़ लेता है । जितना ही पुरुष जागतिक प्रपञ्चके अंदर संलग्न होता है, उसमें प्रपञ्चके साथ-साथ उतना ही प्रपञ्चका दोष भी आ जाता है ।

६३–जबतक बुरेमें बुरापन दीखता है और वह ( बुरापन ) हृदयमें शूल-सा चुभता रहता है, तबतक तो उसको निकालनेकी चेष्टा होती है; किंतु जब बुरेमें अच्छी बुद्धि हो जाती है, तब फिर : बचना बहुत ही कठिन है ।

६४–कर्ममेंसे बुराई निकालनेका एक ही उपाय है—'भग समर्पण-बुद्धि ।'

६५–जहाँ लौकिक वस्तुओंकी इच्छा हुई, वहीं ज्ञान ढक है और पाप आ जाता है—यह नियम है ।

६६—आचारका आधार है धर्म । जबतक धर्मका, ईश्वरका, लोक-परलोकका भय बना रहता है, तबतक तो मनुष्य आचारसे डिगने—पाप करनेसे भय करता है और उससे यथासाध्य बचता भी है, पर जहाँ यह भय निकला कि सब कुछ नष्ट हो जाता है ।

६७—अभ्यासका ( धीरे-धीरे अभ्यास करते रहनेसे उत्पन्न ) स्मरण रूखा होता है और प्रेमका रसीला । वह करना पड़ता है और यह होता है तथा इसके किये बिना रहा नहीं जाता ।

६८—श्रद्धा तत्परताकी जननी है ।

६९—सेवा बननेमें सम्बन्ध मनका है, न कि उपकरणोंका ।

७०—अभीष्टकी प्राप्तिमें जो सुख है उसको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें भी वही सुख है ।····भगवान्‌का सेवक भगवान्‌को साध्य नहीं बनाता, भगवान्‌की सेवा ही उसका साध्य है ।····सेवा सेवाके लिये होती है, सेवासे सेवाकी अभिवृद्धि होती है ।····'भजनके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति होगी, मोक्ष-प्राप्ति होगी'—जहाँ ऐसा विचार है, वहाँ भजनमें गौणबुद्धि है, वहाँ भजन कीमत है, असली प्राप्य वस्तु नहीं ।

७१—जहाँ सेवाभाव होता है, वहाँ सेवाका फल भी सेवा ही होता है । इसलिये सेवामें शिथिलता आदि बातें वहाँ नहीं आतीं । वहाँ तो सेवा न बननेमें ही दुःख होता है ।

७२—साधनाकी कसौटी क्या है ? 'साधनामें आगे बढ़ते रहनेमें आनन्द और लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये तत्परता ।'

७३—जगत्‌की सत्ताका मनसे निकल जाना ही पर-वैराग्य है ।

७४—ऊपरसे मनुष्य जैसा दिखायी दे, उससे कहीं अच्छा मनमें होना चाहिये ।

७५—मनुष्यकी उन्नति तब होती है, जब वह अपनेको देखता है, अपने दोषोंको देखता है, अपने रोगोंको देखता है तथा वे रोग, वे दोष उसके हृदयमें खलते हैं और वह उन्हें मिटानेके लिये प्रयत्न करता है।

७६—मनुष्यको यदि अपना सुधार करना है तो सुधार करनेमें लग जाना चाहिये और पल-पलमें अपने दोषोंको देख-देखकर उन्हें सुधारते रहना चाहिये।

७७—साधक उसीका नाम है, जो सावधान है, सावधान होकर अपने साधनमें लगा हुआ है और जो रात-दिन अपनेको भगवान्‌में संलग्न कर देनेके लिये प्रयत्नशील है।

७८—विपत्तिका पार पाना क्या है? उसका असर हमपर न हो, विपत्तिमें हम हार न मानें, भय न मानें फिर चाहे स्वरूपतः वह बनी रहे।

७९—विपत्तिमें हार तभीतक होती है, जबतक मनुष्य उससे डरता है।

८०—सुखके समय चाहे मा बच्चेको अलग भी रख दे, पर दुःखके समय तो वह उसे अपनी गोदसे अलग नहीं रख सकती। उस समय तो उसका स्नेह उसपर और भी अधिक रहता है। इसी प्रकार विपत्तिके समय भगवान् हमारे साथ रहते हैं। उनके सान्निध्यका अनुभव करना चाहिये।

८१—जगत् जब किसी साधकको जागतिक सम्मानसे वञ्चित करता है, तभी उसके यथार्थ सौभाग्यका उदय होता है औ-

जगत् उसका उच्च आसनपर वरण करता है, तब उसका दुर्भाग्य प्रकट होता है।

८२—साधकके लिये जागतिक सुख पतनका साधन है और जागतिक दुःख उत्थानका। सिद्धके लिये दोनों एक-से हैं; वह सुख-दुःख दोनोंमें भगवान्‌के समान दर्शन करता है।

८३—विपत्तिमें जहाँ हमें डर होता है, वहाँ हम भगवान्‌पर संशय करते हैं, भगवान्‌का अपमान करते हैं; क्योंकि वहाँ हम भगवान्‌के सान्निध्यको ठुकरा देते हैं।

८४—जीवनका चरम लक्ष्य होना चाहिये—भगवान्‌के श्रीचरणोंकी प्राप्ति और इसीको मानना चाहिये परम पुरुषार्थ। जितने भी पुरुषार्थ हैं—प्राप्त करनेयोग्य पदार्थ हैं, वे सभी गिरानेवाले हैं। जबतक यह निश्चय नहीं होता कि भगवान्‌को प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है तथा यही जीवनका चरम लक्ष्य है, तबतक मनुष्य कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं करता।

८५—भगवान्‌के चरणोंको पानेकी अनन्य लालसा ही जीवनका चरम और परम ध्येय है। भगवान्‌की प्राप्ति सहज है, पर उनके चरणाश्रयको प्राप्त करनेकी लालसा बड़ी दुर्लभ है।

८६—भगवान्‌को जाननेकी इच्छा न होकर इच्छा होनी चाहिये भजन करनेकी, चरणोंका आश्रय ग्रहण करनेकी। हमारा काम भगवान्‌को जानना नहीं, पाना है और पाना होता है भजनसे, भगवान्‌के चरणोंकी कृपासे। × × × राजाको जान लेनेसे कुछ हाथ नहीं लगता; पर यदि उनसे प्रेम हो जाय तो काम बन जाता है। इसी प्रकार जो केवल तर्क-युक्तिके द्वारा भगवान्‌को जाननेकी इच्छा करने-

वाले हैं, उनके कुछ हाथ नहीं लगता। अतएव भगवान्‌को जाननेकी, रहस्यमें प्रवेश करनेकी इच्छाको छोड़कर भजनमें लगना चाहिये। भजन करनेसे हमारे लिये जो जानना आवश्यक होगा, वह भगवान् अपने-आप जना देंगे और वही जानना यथार्थ जानना होगा। 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'

८७–दुःख क्या है?—भगवान्‌के परमानन्दस्वरूपमें विश्वास न होना और जगत्‌के क्षुद्र पदार्थोंमें सुखके लोभसे आसक्त होना।

८८–जो भगवान्‌के हैं, जो भगवान्‌के हो गये हैं, जिनको भगवान्‌का एकमात्र आश्रय है, ऐसे जो भी हैं—चाहे पक्षी हों, पशु हों, बालक हों, वृद्ध हों,—उन सबका भार भगवान्‌पर रहता है! उनको कब किस वस्तुकी आवश्यकता है, इसकी जाँच करेंगे भगवान् और पूर्ति करेंगे भगवान्।

८९–जिन लोगोंने श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श पा लिया है, उनकी तो बात ही क्या है; जिन्हें यह निश्चय हो गया है कि बहुत लंबे कालके बाद उनको श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श प्राप्त होगा, उनपर भी विषय-विषका प्रभाव नहीं हो सकता। जिसको भगवान्‌के चरणोंका नखाग्र भी प्राप्त हो गया या प्राप्त होगा, उसको जगत्‌का विष नहीं व्याप सकता।

९०–जितने और अवतार हैं, उनमें भगवान् परवश नहीं, स्ववश हैं; पर इस श्रीकृष्णावतारमें वे भृत्यपरवश हैं, अर्थात् अपने प्रेमियोंके प्रेमके वशमें रहते हैं और वे कहें सो करते हैं।

९१–जो सबका आकर्षण कर ले, यहाँतक कि जीवन्मुक्त पुरुषोंके चित्तको भी हर ले उसका नाम है 'कृष्ण'। भगवान् श्रीकृष्ण

ऐसे ही हैं। इसीसे उनका एक नाम है 'आत्मारामगणाकर्षी'। उनके गुण ही ऐसे हैं, जो आत्माराम महापुरुषोंको भी अहैतुक प्रेमके लिये बाध्य कर देते हैं।

**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।**
**कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥**

९२—आकाशमें पक्षी उड़ता है, उसको पिंजड़ेमें बंद करना बड़ा सुन्दर लगता है, पर उसे पकड़ा कैसे जाय? जो उसे पकड़नेका कौशल जानते हैं, उनके पास जाकर प्रार्थना की जाय तो उसे पकड़नेमें सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार भगवान्के नित्य पार्षद प्रेमी भक्तोंकी सहायताके बिना श्रीकृष्ण-चरणोंकी सेवाका अधिकार प्राप्त करना बड़ा कठिन है।

९३—दुर्भाग्य क्या है? दुर्घटना क्या है? दुर्दैव क्या है? किसीके पास धन नहीं रहा, किसीके चोट लग गयी—यह दुर्घटना नहीं, किसीकी सम्पत्तिका नाश हो गया, यह दुर्भाग्य—दुर्दैव नहीं। श्रीकृष्णको छोड़कर किसी भी जागतिक वस्तुके प्रति मनका अभिनिवेश होना, प्रेम होना—यही दुर्भाग्य, दुर्दैव एवं दुर्घटना है। दूसरे दुर्भाग्य—दुर्दैव, दुर्घटना आदि तो होते रहते हैं, आते-जाते हैं, पर मनुष्य होकर भी जो श्रीकृष्णको छोड़कर विषयोंसे प्रेम करता है, वह उसके लिये सबसे बड़ी दुर्घटना, दुर्दैव या दुर्भाग्य है।

९४—सबके प्रेमका पात्र आत्मा है। आत्माको जो वस्तु अनुकूल है, जिस वस्तुसे आत्माको सुख मिलता दीखता हो, उसीमें प्रेम होता है। पुत्र आदिमें जो प्रेम है, आत्मीयता है, वह आत्माको

लेकर ही। पुत्र आदि सब सुखके पात्र होनेपर भी उनके लिये कोई प्रेम नहीं करता है; प्रेम किया जाता है अपने सुखके लिये, अपनी तृप्तिके लिये। आत्माका अनादर करके, आत्माके सुखकी परवा न करके आत्मीयोंसे कोई प्रेम नहीं करता। आत्मज्ञान होनेपर ही कोई आत्मासे प्रेम करे, यह बात नहीं है, आत्मासे प्रेम स्वाभाविक होता ही है; अत्यन्त मूढ़ एवं अज्ञानी भी आत्मासे प्रेम करता है।

अलग-अलग भावोंसे और अलग-अलग प्रयोजनोंसे हम बहुतोंको प्रेम करते हैं; किंतु अपनेमें जो प्रेम होता है, उसमें प्रयोजनका अन्तर नहीं, भावका अन्तर नहीं। श्रीकृष्ण आत्माके आत्मा हैं अतः उनमें जो प्रेम होता है, उसमें न तो स्वतन्त्र भाव है, न तो स्वतन्त्र प्रयोजन।

जो श्रीकृष्णसे प्रेम करते हैं, उनका जो जगत्‌से प्रेम होता है, वह श्रीकृष्णको लेकर ही। यह नियम है, आत्मसम्बन्धशून्य प्रेम कहीं नहीं होता। श्रीकृष्ण आत्माके आत्मा हैं। अतएव जो श्रीकृष्ण-के प्रेमी हैं, वे यदि दूसरोंसे प्रेम करते हैं, तो श्रीकृष्णको लेकर ही।

जगत्‌में जितना प्रेम है, वह न चिरस्थायी है, न एक समान है और न एकमें है। पर आत्माका प्रेम चिरस्थायी, एक समान तथा एकमें है। श्रीकृष्णमें जिसका एक बार प्रेम हो गया है, वह एकमें हो गया, स्थायी हो गया तथा एक-सा हो गया। फिर वह श्रीकृष्ण-को छोड़कर अथवा अलग किसी प्रयोजनसे किसीको प्रेम नहीं करता।

९५—जो असत् उपायोंसे असत् वस्तुको पाना चाहते हैं— जैसे चोरी-डकैती आदि करके क्षणभङ्गुर धनादिकी इच्छा करते हैं, वे जघन्य जीव हैं; उनकी बात छोड़ दी जाय। पर जो स्त्री, धन,

पुत्र आदि असत् वस्तुओंको शास्त्रानुसार सकाम कर्मके द्वारा प्रा
करना चाहते हैं, वे भी बहिर्मुख हैं और दुर्लभ मानव-जन्म खो र
हैं। वे चिद्वस्तुको छोड़कर जड़में ही मस्त रहते हैं, जड़में ही प्रवृत्त
रहते हैं, अतः वे सारत्यागी तथा असारग्राही हैं। इसके बाद वे
पुरुष हैं, जो चिद्वस्तुके अनुसन्धानमें लगते हैं, विवेकके द्वारा जडका
त्याग करके चित्के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं; वे असारके त्यागी हैं
पर सारग्राही वे भी नहीं हैं। ऐसे पुरुषोंको सारभूत अथवा सारभावी
कहा जा सकता है, पर सारग्राही नहीं। किंतु जो लोग तमाम इन्द्रियों-
को भगवान्की भक्तिमें लगाना चाहते हैं और उसके द्वारा सारातिसार
सच्चिदानन्दघन परात्पर श्रीकृष्णचन्द्रको सेव्यरूप या प्रियतम-
रूपमें ग्रहण करना चाहते हैं, वे ही यथार्थ सारग्राही हैं। उनके
लिये सच्चिदानन्दघन सारवस्तु ही एकमात्र प्रयोजन हैं; भुक्ति-मुक्ति,
सिद्धि आदि प्राप्त करना उनका प्रयोजन नहीं है। अतः उनका
परम पुरुषार्थ मोक्ष नहीं, सच्चिदानन्दघनकी सेवा है—'दीयमानं न
गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।' ऐसे सेवाधिकारी भक्त सेवा छोड़कर
अन्य कुछ भी—मोक्षतक भी स्वीकार नहीं करते, देनेपर भी नहीं
लेते। ऐसे सारग्राहियोंकी वाणी लगी रहती है सच्चिदानन्दघन सार-
वस्तुके गुणोंके कथनमें, कान लगे रहते हैं उनके गुणोंके श्रवणमें तथा
उनका चित्त लगा रहता है उस परात्परकी लीलाओंके अवलोकनमें।

जिनका सच्चिदानन्दघन वस्तुके साथ तादात्म्य हो गया है, जो
उसमें मिल गये हैं, एकरूप हो गये हैं, उनमें सच्चिदानन्दघन चेतन
तत्त्वके सिवा कोई कामना या आकांक्षा नहीं होती, अतः वे सारभूत
हैं। पर जो सारग्राही हैं—जिनका शरीर, मन, वाणी—तीनों चीजें

श्री रहती हैं सच्चिदानन्दरूपकी सेवामें, उनमें नित्य आकाङ्क्षा है, नित्य अतृप्ति है—सेवाकी। ऐसे प्रेमियोंको सर्वदा सेवामें लगे रहनेपर भी सेवासे तृप्ति नहीं होती। उनकी सेवाकाङ्क्षा कभी पूरी होती ही नहीं, उनकी चाह कभी मिटती ही नहीं। प्रेममें तृप्ति कहाँ है, अलं कहाँ है, वह तो 'प्रतिक्षणवर्धमान' है। अतएव उनके स्वभावमें नित्य अतृप्ति रहती है। इसीलिये सच्चिदानन्दघनकी लीला-कथा आदिमें डूबे रहनेपर भी उनके लिये वह लीला-कथा कभी पुरानी नहीं होती। बच्चा नित्य वैसे ही खेलता है, नाचता है, पर माके प्रेममें कभी तृप्ति होती है क्या? इसी प्रकार भगवान्‌की कथासुधा नित्य कानोंमें पड़ते रहनेपर भी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है और यह आकाङ्क्षा और अतृप्ति लीला-कथाको कभी पुरानी तो होने देती ही नहीं, वरं लीला-कथाके श्रवणसे आकाङ्क्षा एवं अतृप्ति बढ़ती ही रहती है।

९६—जहाँ श्रोताके मनमें तर्क नहीं, विवाद नहीं है, केवल रस पीनेकी इच्छा है और केवल उस रसको बढ़ानेके लिये ही प्रश्न है—वहीं वास्तवमें लीला-कथामें रस आता है।

९७—कथा—अन्तरङ्ग रहस्य-कथा वहींपर प्रकट होती है, जहाँ वक्ताके मनमें स्वतः श्रोताकी रुचि एवं इच्छा देखकर वस्तु जाग्रत् हो जाती है। कहनेवालेके पास बहुत चीजें हैं, पर श्रोताकी रुचि न देखकर वे छिप जाते हैं, किंतु एक समुदाय वह होता है, जहाँ बैठनेसे वक्ताके मनमें नयी-नयी बातें उदय होती हैं। जहाँ श्रवणका आग्रह है तथा निरन्तर कथा-श्रवण करनेपर भी जहाँ तृप्ति नहीं—खाये जायँ और भूखे, खाये जायँ और भूखे—ऐसे समुदायमें वक्ताके मनमें अन्तरङ्ग नवीन-नवीन कथाओंकी स्फूर्ति होती रहती है।

९८—भगवान्‌की लीला-कथा ही ऐसी है कि वह कैसे भी कानोंमें जाय, पाप-तापको नष्ट कर देती है, पर जो श्रीकृष्णके भक्त हैं, प्रेमी हैं, उनके मुखसे यदि कथा सुननेका सौभाग्य मिल जाय, वहाँ तो पाप-ताप रह ही नहीं सकते; क्योंकि उनका मन श्रीकृष्णके साथ जुड़ा रहता है। अतएव वे जो भी शब्द उच्चारण करते हैं, वह श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही।

९९—प्रेमी भक्त तन्मयतामें आनन्द उपलब्ध नहीं करते—तन्मयता योगियोंकी चीज है; वे तो लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें ही आनन्द लेते हैं।

१००—जो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं—भगवान् उनके पिता हैं, माता हैं, पुत्र हैं, भाई हैं—जो भगवान्‌को अपना परम आत्मीय मानते हैं तथा जो त्रिलोकीका राज्य तो क्या, मोक्षतकके लिये लीला-कथा सुनना छोड़ना नहीं चाहते, वे ही भागवतोत्तम हैं।

१०१—सत्संग दो प्रकारका है—( १ ) वह जिसके प्रभावसे अन्तःकरणके मलका नाश होता है, मन शुद्ध होता है, भगवद्भक्ति-का—ज्ञानका उदय होता है तथा अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति होती है। यह परम्परासे मुक्ति देनेवाला सत्संग है। ( २ ) दूसरा सत्संग वह है, जिसके एक लवमात्रके साथ मोक्षतककी तुलना नहीं की जा सकती।

पहली श्रेणीका सत्संग सम्मान्य सत्पुरुषोंका संग है, उनके प्रेमियोंका नहीं। दूसरे प्रकारका सत्संग भगवान्‌के संगीका संग है—ऐसे संगीका जो नित्य भगवान्‌में आसक्तचित्त है, जिसका मन भगवान्-

के साथ नित्य-सम्बद्ध है, जो भगवान्‌का वास्तविक प्रेमी है और जो अन्तरङ्ग लीला-प्रसंगको जानता है। प्रेमके बिना अन्तरङ्गकी बात नहीं जानी जाती, अन्तरङ्गकी बात प्रेमीको केवल प्रेमसे ही ज्ञात होती है। अतएव भगवान्‌के अन्तरङ्ग प्रेमी पुरुषोंसे भगवान्‌की जो बातें सुननेको मिलती हैं, उनके सामने मोक्ष कुछ नहीं।

१०२—देवमाया और असुरमाया वहीं चलती है, जहाँ भगवदाश्रय नहीं है। जो भगवान्‌के चिर आश्रित हैं, भगवान्‌के सखा हैं, उनपर देव-असुर कोई-सी माया नहीं चल सकती।

१०३—जो भक्त नहीं हैं, उनसे भगवान् अपनी लीला छिपाते हैं, भक्तोंके ही सामने भगवान्‌की लीला प्रकट होती है।

१०४—विपत्तिका ज्ञान बुद्धिको हर लेता है। बड़े-बड़े बुद्धिमानों-की बुद्धि भी विपत्तिमें विलुप्त हो जाती है। भगवान् परम ज्ञानस्वरूप हैं, पर भक्तके विपत्तिलेशकी कल्पनामात्रसे वे भी बुद्धिरहित-से हो जाते हैं। उनमें अचिन्त्य अनन्त महाशक्तियाँ हैं, पर ऐसे अवसरपर वे अपनेको शक्तिहीन मानने लगते हैं और परम व्याकुल तथा परम चिन्तित हो जाते हैं। इसीलिये वे बछड़ों तथा गोपबालकोंके ब्रह्माजीके द्वारा छिपा दिये जानेपर चिन्तामें डूबे हुए हैं। उस समय कोई उन्हें देखे तो ऐसा ज्ञात हो कि जैसे कोई छोटा-सा अज्ञ बालक खड़ा-खड़ा रो रहा है, शोक कर रहा है, वह व्यग्र, बेसुध एवं व्याकुल है। जिन भगवान्‌की चरण-ज्योतिके लेशाभासके अंशमात्रसे सारी चिन्ताएँ सदाके लिये दूर हो जाती हैं, वे भगवान् स्वयं चिन्तित हो जाते हैं, अप्राकृतके परम सिंहासनसे उतरकर प्राकृतकी कोटिमें आ जाते हैं। भगवान्‌की प्रेमाधीनताका यही स्वभाव है।

१०५—प्रयोजन और वस्तुसंयोगके बिना अग्निकी शक्तिका प्राकट्य नहीं होता। व्रजवासी गोप-गोपियोंके प्रेमरूपी आवरणमें ज्योतिर्मय भगवान् छिपे हुए हैं, वहाँ बैठे हुए हैं, छोटे-से हैं, बाल-विग्रह हैं, प्रेम और आनन्दकी मूर्ति हैं। सर्वशक्तिमत्ता, अनन्त ऐश्वर्य, सर्वव्यापकत्व, विभुत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि अनन्त भागवती शक्तियाँ सच्चिदानन्दघनके इस मधुर मनोहर बालविग्रहमें विद्यमान हैं, परंतु प्रयोजन न होनेसे, आवश्यकता न होनेसे प्रकट नहीं होतीं।

१०६—मनुष्यमें जितनी शक्तियाँ हैं—देखने या सुनने आदि-की—सब मनके अधीन हैं। मनका संयोग न हो तो कोई भी शक्ति काम नहीं करती। आँखोंसे देखते रहनेपर भी यदि मन साथ नहीं है तो ज्ञान नहीं रहता, क्या देखा है। इसी प्रकार भगवान्‌की समस्त सर्वज्ञता, सर्वनियन्तृता आदि शक्तियाँ लीलाशक्तिके अधीन हैं। लीलाशक्ति एवं कृपाशक्तिके प्राकट्यके लिये, उनके सहयोगके लिये ही अन्य सब शक्तियाँ प्रकट होती हैं।

१०७—भगवान्‌के सभी कार्योंमें रहता है 'अमृत'। भगवान् किसीको मारते भी हैं तो तारनेके लिये। भगवान् कल्याणमय हैं; अतएव उनसे कोई ऐसा कार्य होता ही नहीं, जिसमें बुराई हो।

१०८—भगवान्‌के अस्तित्वका वास्तवमें हमें विश्वास हो जाय—हमें यह विश्वास हो जाय कि भगवान् यहाँ हैं, हमें देख रहे हैं—तो सच्ची बात है कि हम निष्पाप हो जायँ, निश्चिन्त हो जायँ और निर्भय हो जायँ।

भला इस बातमें है और इसको आप यों कर दीजिये ।' बस,
यही होती है । भगवान्पर विश्वास करनेवाला छोटे बच्चेकी भ
भगवान्पर ही निर्भर होता है । वह स्वयं कोई प्रयत्न नहीं कर
वास्तवमें वह कोई दूसरा प्रयत्न जानता ही नहीं । अभाव प्रतीत हु
उसने उसे भगवान्के सामने रख दिया । अब उसकी पूर्ति कैसे, कि
वस्तुसे, कब होगी, होगी या नहीं, होनी चाहिये या नहीं—यह
नहीं सोचता । जैसे छोटा बच्चा जाड़ा लगनेपर रोता है, पर म
सामने रोनेके सिवा और कुछ नहीं जानता, वैसे ही सकामी भ
भी भगवान्पर निर्भर करता है । भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे उस
आवश्यकताको समझकर ऐसी व्यवस्था कर देते हैं, जिसमें उसक
यथार्थ परम हित होता है ।

४—स्नेहसे भरी हुई माता अपने बच्चेका लालन-पालन स्व
अपने हाथों करती है, उसे किसी दूसरेपर विश्वास ही नहीं होता कि
वह ठीक कर देगा । वास्तवमें उसे स्वयं सार-सँभाल किये बिना संतो
ही नहीं होता । इसी प्रकार भगवान् सच्चे भक्तके योगक्षेमको स्व
वहन करते हैं, दूसरोंसे नहीं करवाते ।

५—भगवान्का अनन्य चिन्तन, भगवान्की एकान्त उपासन
और नित्य भगवान्में चित्तका लगा रहना—ये तीनों बातें होती हैं
भगवान्की कृपामें विश्वास होनेपर ही ।

६—विश्वास हो जानेपर ही काम होता है । हमारे हाथमें हीरा
रखा है; पर हमारी बुद्धिमें समाया है कि यह काँच है । इस प्रकार
हमारी श्रद्धा न होनेसे हाथका हीरा काँच बन जाता है, उससे हमें
कोई लाभ नहीं हो सकता । परंतु जहाँ श्रद्धा है, वहाँ काँच भी हीरा

ज़ता है और दृढ़ श्रद्धा होनेसे काँच हीरा बन भी जाता है।
ादमें दृढ़ विश्वास ही तो था। उसे दृढ़ निश्चय था कि आगमें
भगवान् हैं, वे ही मुझमें हैं; उसे काटनेके लिये जो साँप भेजे
ये हैं, उनमें और उसके अन्तरमें रहनेवाले भगवान् दूसरे थोड़े ही
। बस, इसी विश्वासके प्रतापसे उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ
ौर इसी विश्वासके कारण खम्भेमेंसे भगवान् प्रकट हुए।

७–आस्तिकता भगवान्‌का हर जगह प्रत्यक्ष कराती है।
प्रह्लादकी आस्तिकता ही थी, जो उसे विष, साँप, अग्नि, जल,
पहाड़—सभीमें भगवान्‌के दर्शन कराती थी।

८–प्रेमके मार्गमें क्रियाका विरोध नहीं है, अपितु उसमें क्रिया
और भी सुन्दर ढंगसे होती है। हमारी क्रियासे प्रेमास्पदको सुख
पहुँचता है, इस भावसे तो क्रियामें और भी रस, माधुर्य, सौन्दर्य,
उत्साह और भाव बढ़ जाता है।

९–भगवान्‌को छोड़कर दूसरेकी आशा करना, विश्वास करना,
भरोसा करना पाप है, व्यभिचार है।

१०–केवल एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो किसी व्यक्तिका पिछला
इतिहास नहीं देखते, उसके वर्तमान आचरण नहीं देखते; वे देखते
हैं केवल उसके विश्वासको और इस विश्वासको देखकर ही वे उस
व्यक्तिके अभावकी अनुभूतिका ही अभाव कर देते हैं। मनुष्यको दुःख
होता है अभावकी अनुभूतिसे। अभावकी अनुभूति मिट जानेपर उसका
दुःख मिट जाता है।

११–अपने बलको मनुष्य जहाँ भगवान्‌के बलसे अलग मानता
है, वहीं वह बल आसुरी हो जाता है।

१२—भगवान्‌के जो निर्भर भक्त हैं, वे केवल भगवान्‌की ओर ताकते हैं; उनमें न अपने बलका अभिमान है, न किसी औरका भरोसा। वे तो अपनी 'प्रीति, प्रतीति, सगाई' को सब जगहसे हटाकर भगवान्‌में लगा देते हैं।

१३—प्रेम कभी टूटता या घटता नहीं; वह तो प्रतिक्षण एकतार बढ़ता ही रहता है। प्रेम गुणरहित, अनुभवरूप और कामनारहित है। जो प्रेम गुणोंको देखकर होता है, वह तो गुणोंके न दीखनेपर लुप्त हो जाता है।

१४—प्रेममें प्रतिकूलता नहीं रहती। प्रेम प्रतिकूलताको खा जाता है। प्रेमास्पद यदि प्रेमीके प्रतिकूल कार्य करके सुखी होता है तो उसीमें प्रेमीको अनुकूलता दीखती है।

१५—प्रेम खालीपन चाहता है। जब प्रेमी अपने हृदयको खाली कर देता है, तब प्रेम वहाँ बैठता है। खाली करनेका अर्थ है—त्याग। अर्थात् जितना-जितना त्याग बढ़ता है, उतना-उतना ही प्रेम होता है। त्यागके आधारपर प्रेम रहता है।

१६—जब भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है और विषयोंकी ओरसे घटता है, तब समझ लो कि भगवत्कृपा हमपर बरस रही है। इसके विपरीत यदि विषयोंमें प्रेम बढ़ रहा है और भगवान्‌की ओरसे घट रहा है, तब समझ लो कि भगवान्‌की कृपासे हम वञ्चित हो रहे हैं और जहाँ विषयोंमें ही प्रेम हो गया है और भगवान्‌की ओर मन ही नहीं जाता, तो समझ लो कि हम भगवत्कृपासे वञ्चित हो गये हैं।

१७—संसारकी स्थितिको अनुकूल बनाकर हम सुखी हो जायँ यह असम्भव है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने स्वयं अपनी

लीलाओंसे इस बातको दिखा दिया है कि जगत्का यही स्वरूप है। जगत्में तो प्रतिकूलतामें ही अनुकूलताका अनुभव करना होगा, तभी सुख होगा और यह प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी प्राप्ति कब होगी— जब हमारा भगवान्पर विश्वास होगा। जब हम प्रत्येक स्थितिमें मङ्गलमय भगवान्के मङ्गलविधानका प्रत्यक्ष करेंगे। जब जगत्में हमें भगवान् और भगवान्की लीला ही दिखायी देगी।

१८–भगवान् पराये नहीं हैं और न वे बहुत दूरपर स्थित हैं कि उन्हें देखना, पाना हमारे लिये दुर्लभ हो। जैसे अपने आत्माको हम चाहे जहाँ प्राप्त कर सकते हैं—प्राप्त क्या कर सकते हैं, वह तो नित्य हमारे अंदर विराजित है, हमारा स्वरूप ही है—वैसे ही भगवान्को अपना मान लेनेपर भगवान् भी सर्वत्र-सर्वदा हमारे निकट हैं। जैसे गोदके शिशुके लिये मा अत्यन्त निकट है, वैसे ही निर्भर भक्तके लिये भगवान् अत्यन्त निकट हैं।

१९–प्रार्थना दो कामोंको सिद्ध करती है— (१) भगवान् हमारे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और (२) भगवान् नित्य हमारे पास रहने लगते हैं। इस समय हम भगवान्को नित्य अपने निकट नहीं देखते—इसका सीधा-सादा प्रमाण यह है कि हमें चिन्ता होती है, विषाद होता है, भय होता है, अशान्ति होती है। प्रार्थना हमें भगवान्की सन्निधिमें ले जाती है और नित्य वहीं रखती है।

२०–प्रार्थनाका अर्थ है—विश्वासपूर्वक भगवान्के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेना। प्रार्थनाके लिये वाणीकी आवश्यकता नहीं है। चाहे श्लोक न आवे भाषा ठीक न हो। भगवान्की प्रसन्नताके लिये विशेष भाषा, विशेष शब्दोंकी आवश्यकता नहीं; उसके लिये तो एक ही वस्तुकी आवश्यकता है—वह है विश्वाससे भरा श्रद्धापूर्ण

हृदय। भारतीय भक्तिशास्त्रोंमें इसीलिये सम्बन्ध-स्थापनकी बातपर जोर दिया गया है। भगवान्‌के साथ प्रगाढ़ आत्मीयता हो जानेपर भगवान् अपने हो जाते हैं। वास्तविक प्रार्थना वह है, जिसमें हम जगत्‌के नहीं रहते, भगवान्‌के हो जाते हैं। पतिव्रता एकमात्र पतिकी ही हो जाती है। पतिके बिना उसके लिये जगत्‌में और कोई वस्तु न आवश्यक है और न सुखकर।

२१—प्रार्थनामें निष्काम और सकामका जो झगड़ा है, वह आत्मीयता न होनेके कारण है। जहाँ आत्मीयताका प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वहाँ सकाम और निष्काम दोनों ही भाव नहीं रहते। वहाँ तो रहती है प्रगाढ़ आत्मीयता, नितान्त अपनापन। यदि एक सूईकी भी आवश्यकता है तो प्रगाढ़ प्रेम और आत्मीयताके लिये। पतिव्रता कपड़ा सीकर पहनती है तो पतिके लिये और सीनेके लिये सूई माँगती है तो पतिसे ही। भगवान्‌से अमुक वस्तु न माँगो आदि कहना तो भगवान्‌के साथ प्रगाढ़ आत्मीयताका न होना सूचित करता है। निन्दा उस सकाम भावका है, जो इन्द्रिय-सुख-भोगके लिये होता है। जहाँ इन्द्रिय-सुख-भोगकी भावना ही नहीं है, सब कुछ भगवत्प्रीतिके लिये है, वहाँ सकाम-निष्काम—कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाय, इसके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता होती है।

२२—बिना विश्वासके प्रार्थना नहीं होती और विश्वास होनेपर प्रार्थना न सुनी जाय, यह हो नहीं सकता। प्रार्थनाके न सुने जानेमें कारण है—विश्वासकी कमी। भगवान् भाषा नहीं देखते; भाषा चाहे कुछ भी हो, विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारनेपर उत्तर न मिले—यह सम्भव नहीं। उत्तर मिलता अवश्य है; हाँ, वह हमारे मनको

अनुकूल लगे या प्रतिकूल—यह बात दूसरी है। एक नरकके कीड़ेका भी भगवान्‌के दरबारमें वही आदर है, जो एक बड़े-से-बड़े देवताका। उस दरबारमें इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि कौन किस वर्णका, किस जातिका, किस देशका और किस आश्रमका है। वहाँ तो केवल विश्वास और प्रेम चाहिये।

२३—सकाम भक्ति भी फल देकर मरती नहीं। भगवान् कहते हैं 'मद्भक्ता यान्ति मामपि'—चारों प्रकारके भक्त मुझे प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्भक्ति ऐसी चीज है कि उसके बदले हम कुछ माँग भी लेते हैं तो भी वह बनी रहती है। भगवान् भक्तकी माँगी हुई वस्तु देकर भी उसके विश्वासको नष्ट नहीं करते।

२४—सकामभावसे विश्वासपूर्वक यदि भगवान्‌को पुकारा जाय तो दो बातोंमेंसे एक अवश्य हो जाती है—( १ ) या तो वह कामना पूर्ण हो जाती है, ( २ ) या उस काम्य वस्तुके अभावके कारण उत्पन्न खेद मिट जाता है। अधिकतर कामनाकी पूर्ति ही होती है।

२५—जगत् दुखी क्यों है ? अपने मँगतेपनके कारण, कामनाके कारण। भगवान्‌को याचनेपर यह मँगतापन, यह कामना जल जाती है। इसलिये कुछ माँगना भी हो तो उन्हींसे माँगे—

**जग जाचिय कोउ न जाचिय जौं इक जाचिय जानकिजानहि रे।**
**जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे॥**

२६—किसी भी इच्छासे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना अच्छा है।

२७—समय बहुत अमूल्य धन है हमारे पास और उस समयका दुरुपयोग करना या सदुपयोग करना अथवा समयसे हानि उठाना

हमारे हाथकी बात है। समयको यदि हम सत्कर्ममें लगाते हैं तो उ
लाभ उठा रहे हैं और यदि व्यर्थके कामोंमें लगाते हैं तो उसे खो रहे
और यदि उसे बुरे कामोंमें लगाते हैं तो हानि कर रहे हैं। मनुष्
जीवनका एक-एक क्षण बड़े कामका है। भगवान्‌पर विश्वास हो अ
उस विश्वासको लेकर मनुष्यका मन उनपर निर्भर हो जाय तथा सत्का
लग जाय तो समयका बड़ा सदुपयोग है। जितना समय भगवान्‌में ल
गया, उतना सार्थक है, सफल है; शेष सब तो व्यर्थ ही जा रहा है।

२८—व्यर्थताके दो स्वरूप हैं—( १ ) जिसका कोई सदुपयोग न
हुआ और ( २ ) जिसमें नये पाप पैदा हुए। प्रथमसे दूसरा स्वरू
अधिक भयावह है।

२९—समयको परदोष-कथन, दूसरेको हानि पहुँचाने, तन-मन
वचनसे पापकर्मोंका आचरण, निन्दा आदि निषिद्ध कार्योंमें व्यतीत
करनेसे मानव-जीवनकी व्यर्थता ही सिद्ध नहीं होती, उल्टे हम अपनेको
नाना नरकयोनियोंमें ले जाते हैं। विभिन्न जीव-शरीरोंमें जीवको जो
विभिन्न प्रकारके दुःख मिलते हैं, वे सभी मनुष्य-जीवनमें किये गये
कुकर्म-बीजोंके ही फल होते हैं।

३०—जिस किसी क्षण जीवका मन एकान्तभावसे भगवान्‌में
लग जाता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

३१—जो समय भगवत्स्मरण-शून्य है, वह सबसे बड़ी विपत्तिका
समय है; सांसारिक विपत्तिका समय विपत्तिका नहीं। विपत्तिमें भी
यदि भगवत्स्मरण हो तो वह विपत्ति भी अभिनन्दनीय है।

३२—भगवान्‌के लिये हमारे कर्म हों, भगवान्‌के लिये हमारा
मन हो, भगवान्‌के लिये ही हमारी वाणी हो—जो समय इस रूपमें
बीते, वही सदुपयोगका है।

३३—भगवान्‌के सामने तो दीन, पर विकारोंके सामने परम बल-वान् होना चाहिये। यह बल अपना नहीं, भगवान्‌का—

**अब मैं तोहि जान्यो संसार।**

**बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार॥**

पाप, ताप आकर हमें घेर लेंगे,—ऐसा माननेवाले भगवान्‌की शक्तिका अपमान करते हैं। हम भगवान्‌के हैं और भगवान्‌की शक्ति हमारी रक्षाके लिये निरन्तर प्रस्तुत है। हमारे भगवान्‌के साथ रहते हमारे पास पाप-ताप आ नहीं सकते।

३४—जाननेका अर्थ है—विश्वास हो जाना।

३५—भगवान् अमुक काम कर सकते हैं, अमुक काम नहीं कर सकते—जो लोग युक्तियों, तर्कोंसे इस प्रकारकी मीमांसा करने बैठते हैं, वे व्यर्थ ही समय नष्ट करते हैं। किंतु जो भगवान्‌की अचिन्त्य महाशक्तिपर विश्वास करके उनके चरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, वे शान्ति पा जाते हैं।

३६—भगवान्‌का निग्रह एवं अनुग्रह दोनों ही बड़े विचित्र हैं। उनके निग्रहमें भी अनुग्रह है, अतएव उनकी लीला कौन जान सकता है।

३७—भगवान्‌का कोप, भगवान्‌का निग्रह—निग्रह एवं कोप नहीं होते, क्योंकि उनके पास किसीका अहित करनेवाली चीज है ही नहीं। वे जिनपर कोप करते हैं, वे जिनका निग्रह करते हैं, वे भी बड़े सौभाग्यशाली हैं।

३८—भगवान्‌की लीलाओंका तत्त्व जाननेकी चेष्टा न करके उन लीला-कथाओंका गायन करें, श्रवण करें—हमारा यही कर्तव्य है।

३९—भगवान् बड़े अद्भुतकर्मा हैं। उनकी सारी लीलाएँ ही परम अद्भुत एवं चमत्कारमयी हैं। उन्हें देखकर पहले भ्रान्ति होती है; पर परिणाम देखकर बड़ा सुख मिलता है; बड़ी चमत्कृति होती है।

४०—असलमें भगवान्‌की बात भगवान् ही जानते हैं। जो लोग संसारमें किसी दुःखको पाकर भगवान्‌पर अप्रसन्न होते हैं, उनको कोसते हैं, वे यह नहीं जानते कि यह दुःख भी किसी महान् सुखकी पूर्व-भूमिका है।

४१—सेवामें सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक वस्तु है प्रेम। बड़े भारी उपकरणोंसे सेवा की जाय; पर प्रेम नहीं तो वह सेवा सेवा नहीं होती, दिखावा होता है। किंतु यदि प्रेम है तो वह अपने-आप उपकरणोंको (चाहे वे अत्यन्त अल्प ही हों) सजा देता है और उनसे विशुद्ध सेवा होती है।

४२—भगवान्‌के जितने वस्त्र हैं, अलङ्कार हैं, अस्त्र-शस्त्रादि हैं, सब-के-सब दिव्य, चेतन एवं सच्चिदानन्दमय हैं और भगवत्स्वरूप हैं। वे वैसे अदृश्य रहते हैं, पर समय-समयपर किसी घरवालेके द्वारा या भक्तके द्वारा प्रकट हो जाते हैं। यशोदा मैया जब श्रीकृष्णको कोई आभूषण आदि पहिनाती हैं, तब भगवान्‌के वे अदृश्य आभूषण आदि किसी-न-किसी रूपमें उनके कोषागारमें प्रकट हो जाते हैं और उन्हीं आभूषणोंसे मैया उनका शृङ्गार करती हैं; किंतु भक्तको अथवा घरवालोंको यह ज्ञात नहीं होता कि भगवान्‌के दिव्य आभूषण प्रकट हुए हैं और वह उनके द्वारा उनका शृङ्गार कर रहा है।

४३—एकमात्र श्रीकृष्णकी कृपा ही जीवका परम संबल है। उनकी कृपामें यदि अनास्था है तो जीवके लिये कोई आश्रय नहीं।

ा-कणिकाको प्राप्त करनेके लिये जीवके पास एक ही उपाय है कि
कृष्णके चरणोंका आश्रय ले लिया जाय।

४४–शब्दका बड़ा महत्त्व है। शब्द ब्रह्म माना गया है। वेद
ब्द ही हैं, भगवान्‌की वाणी हैं। वैदिक, तान्त्रिक आदि जो मन्त्र
, वे शब्दात्मक हैं और उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। अर्थ बिना
मझे केवल उन शब्दोंके उच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है।

४५–शब्दमें दो बातें हैं—(१) शब्दका उच्चारण होते ही
वह समस्त आकाशमें उसी क्षण व्याप्त हो जाता है और (२)
शब्द नित्य रहता है और अपने रूपमें रहता है। जिस रसका, जिस
भावका जो शब्द उच्चरित होता है, वह उसी रस, उसी भाव और
उसी ध्वनिको लेकर नित्य रहता है।

४६–काल, ऋतु आदिको लेकर शब्दके बहुत भेद होते हैं
कालके अनुसार एक ही आदमीके शब्दोंकी ध्वनिमें अन्तर होता है; काम
क्रोध, लोभ आदि भावोंके अनुसार शब्दकी ध्वनिमें अन्तर होता है, मनुष्य
के शरीरकी स्थितिके अनुसार शब्दोंकी ध्वनिमें अन्तर होता है; जि
व्यक्तिके साथ शब्द बोला जाता है, उसको लेकर भी शब्दकी ध्वनि
अन्तर होता है, तिथियों, वारों, नक्षत्रों और प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्य
रात्रि आदिमें भी शब्दकी ध्वनियोंमें अन्तर होता है।

४७–जो लोग अनर्गल बोलते हैं; उनकी वाणीमें बहुत दोष
जाते हैं। थोड़ा बोलनेवाला हो बकवाद न करे, जो बोले शुभ स
बोले, तो वह जो बोलेगा, प्रकृतिको उसे पूरा करना ही पड़ेगा। महात्मा
की वाणी सिद्ध होती है, उसमें यही बात है।

४८–बुरा शब्द अपने लिये घातक है, जिसके प्रति बोला ग
उसका बुरा तो प्रारब्धवश होगा।

४९—वाणीकी शक्ति दो प्रकारसे नष्ट होती है—( १ ) असत्य बोलनेसे और ( २ ) व्यर्थके भाषणसे ।

५०—जैसे पानी कपड़ेसे छानकर पीते हैं, वैसे ही शब्दको सत्यसे छानकर बोले ।

५१—शब्दके उच्चारणमें प्रधान बात है—परिमित बोले और शुभ बोले । बिना आवश्यकता कुछ बोला ही न जाय । शेष समयमें भगवान्‌के नामका उच्चारण करता रहे ।

५२—मिठास कहाँ है—जहाँ प्रेम है; जलन, विष कहाँ है—जहाँ द्वेष है । प्रेममें आनन्द है, माधुर्य है; द्वेषमें विष है, जलन है ।

५३—भगवान्‌के लिये कोई भी काम ऐसा नहीं, जो वे न कर सकें । अतएव जब हम किसीसे कहते हैं कि 'भगवान्‌पर विश्वास करो, तुम्हारा यह काम हो जायगा,' तब इसमें तनिक भी झूठ नहीं है । हम जो इन शब्दोंके कहनेमें कुछ हिचकते हैं, इसमें हमारी नास्तिकता काम करती है । नहीं तो भगवान्‌पर यदि किसीने सच्चा विश्वास कर लिया तो उसका काम अवश्य हो ही जायगा ।

५४—किसीमें शक्ति हो तो आशीर्वाद पाप नहीं है । हमारे विश्वाससे तो आशीर्वाद देनेसे शक्ति बढ़ती है; क्योंकि आशीर्वादमें अपने पुण्यका दान किया जाता है । अतः उस पुण्य-दानका महाफल होगा ही । हाँ, आशीर्वाद भी होना चाहिये निष्काम और अहङ्कारशून्य ।

५५—संदेहको लेकर जो अनुष्ठान होता है, वह सफल नहीं होता । यह वस्तु है, मिलती है और मुझे अवश्य मिलेगी—अर्थात् वस्तुमें, उसकी प्राप्तिमें और अपनेमें—इन तीन बातोंमें जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहाँ सफलता-ही-सफलता है । इन तीन बातोंमें जहाँ संदेह है, वहीं असफलता होती है !

५६–मनुष्य कठिनाइयोंपर विजय पा सकता है—इसलिये कि वह भगवान्का अंश है; आग्रह, अहङ्कार, पुरुषार्थ आदिसे नहीं। सबसे बड़ा बल जो उसके पास है, वह भगवान्का है। मनुष्य यदि भौतिक पदार्थोंके बलपर भौतिक कठिनाइयोंको मिटाना चाहे तो वे घटेंगी नहीं बढ़ेंगी। जहाँ भौतिक बलको मनुष्य त्याग देता है—निर्बल होकर बल-रामको पुकारता है—वहाँ कठिनाइयाँ रह नहीं सकतीं। उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ अपने आप हट जाती हैं—

सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

५७–जिसको वास्तविक प्रेम कहते हैं, वह वाणीका विषय नहीं है; वह तो एक सहज स्थिति है और वह स्थिति त्यागके बहुत ऊँचे स्तरपर पहुँचनेपर प्राप्त होती है।

५८–प्रेम और भगवान्में अन्तर नहीं। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें सबसे प्रथम और सबसे अन्तिम आवश्यक वस्तु है—सर्वस्वका समर्पण और उत्कट अभिलाषा। सब कुछ भगवान्को सौंप देना और भगवान्के अतिरिक्त और वस्तुको किसी भी स्थितिमें न चाहना, न लेना।

५९–जहाँ हमने भगवान्का आश्रय लिया, वहीं स्वाभाविक रूपसे दैवी सम्पत्ति हमारे जीवनमें आ जायगी। ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्योदयके साथ ही प्रकाश आ जाता है।

६०–भगवान्में जो दिव्य गुण हैं उनका अनुकरण करना, उनकी नकल करना, वे गुण किसी अंशमें अपनेमें आवें, इसके लिये प्रयत्न करना बड़े महत्त्वका साधन है। जैसे, भगवान् अपने सर्वस्वका जगत्में वितरण करना चाहते हैं, तो उनके इस गुणका अनुकरण-कर हम भी अपने पास जो सम्पत्ति और गुण हों, उनको भगवान्-

की सेवाके निमित्त जगत्में वितरण करते रहें। देनेपर ही चीज मिलती है और हम जैसी चीज देते हैं, वैसी ही चीज हमें मिलती है और मिलती है अनन्तगुनी होकर। अतएव हम सद्गुणोंका वितरण करेंगे तो हमारे सद्गुण अनन्तगुना बढ़ जायँगे। भगवान्‌के राज्यमें बुरेका फल अच्छा और अच्छेका फल बुरा कदापि नहीं हो सकता। बीज एक होता है और फल अनेक। साथ ही बीजसे उसका ही फल होता है, दूसरा नहीं। अतः जैसा भला-बुरा हम करते हैं, वैसा ही अनन्त गुना भला-बुरा हमें प्राप्त होगा।

६१—भगवान्‌के जितने भी सुन्दर गुण हैं, सभी अंशरूपमें हमारे अंदर हैं; क्योंकि हम भगवान्‌के अंश हैं। पर उन गुणोंका विकास नहीं होता, वे छिपे रहते हैं। इसलिये साधनाकी आवश्यकता होती है। साधनामें सबसे पहली वस्तु है—भगवान्‌की ओर हमारा मन आकृष्ट हो, भगवान्‌को हम अपने जीवनका आधार बनावें और उनका चिन्तन करें। यह गुण आधाररूप है जो अन्य गुणोंको खींचकर लाता है। भगवान्‌का भजन करें, उनकी शरण ग्रहण करें, मनको उनसे जोड़ें—यह पहली बात है। यदि हमने इसे कर लिया तो अन्यान्य गुण हमारे अंदर अपने-आप ही प्रकट होने लगेंगे। हमने आग जला ली तो उसके साथ उसकी दाहिका शक्ति अपने-आप आ जाती है। इसी प्रकार हम देवको अपने घरमें ले आयें तो उनके साथ दैवी सम्पत्ति अपने-आप आ जायगी। पर आज हम देवको छोड़कर दैवी सम्पत्ति चाहते हैं; सूर्यका बहिष्कार करके उसके प्रकाशको चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम दैवी सम्पत्ति या प्रकाशसे वञ्चित रह जाते हैं। भगवान्‌में अविश्वास करनेवालोंमें भी कभी-कभी दैवी गुण दिखायी पड़ जाते हैं, पर बिना दैवी आधार-

७१—मनुष्य जो किसी भी स्थितिमें तृप्त नहीं है, यह इसी बात-को सिद्ध करता है कि वह किसी पूर्णताकी स्थितिको प्राप्त करना चाहता है। भगवान् सुख और शान्तिके स्वरूप हैं। पूर्ण सुख, अखण्ड सुख, नित्य सुख भगवान्‌में ही है! हम ऐसे ही सुखको चाहते हैं और ऐसा सुख जगत्‌में कहीं है नहीं। इसीलिये हम कहीं भी, किसी भी स्थिति-में पहुँच जायँ, हमें अतृप्तिका, अभावका ही बोध होता है। हमारी इस अतृप्तिसे ज्ञात होता है कि हम परिपूर्णतम भगवान्‌को चाहते हैं।

७२—मनुष्यका 'स्व' जितना ही फैला हुआ होता है, उतना ही उसका 'स्वार्थ' पवित्र होता है और जितना 'स्व' संकुचित होता होता है, उतना ही स्वार्थ अपवित्र होता है, [illegible] होता है, गंदा होता है।

वे सब भगवान्‌के हो जायँगे । यदि इस प्रकार विषयका सेवन कि जाय तो विषय हमें बाँधते नहीं । जो कर्म भगवान्‌की सेवाके लि नहीं होते, वे बाँधनेवाले होते हैं । अतएव कर्म किया जाय, अ प्रकार किया जाय, पर अपने लिये नहीं, भगवान्‌के लिये हो भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे 'स्वार्थ' गंदा नहीं होता ।

७४—'विश्व-सेवा ही भगवत्सेवा है और हम सेवा करनेवाले हैं। यह भाव ठीक नहीं; इसमें त्रुटि है । भगवान्‌की सेवा ही विश्व-सेवा है और भगवान्‌की सत्‌प्रेरणासे ही हम उन्हींकी वस्तुओंके द्वारा उनकी सेवा होनेमें निमित्त बनते हैं—यह भाव होना चाहिये । विश्व भगवान्‌के एक अंशमें है । पर जब मनुष्य विश्वको भगवान्‌से अलग समझकर उसकी सेवा करते हैं, तब उसमें सेवा करानेवालेका मनोरञ्जनमात्र होता है और सेवकके मनमें अभिमान आ जाता है, उसमें सेव्यके हितकी दृष्टि नहीं रहती, वरं सेवक कहलानेकी भावना हो जाती है । इसलिये सेवा भी यथार्थरूपमें नहीं हो पाती । विश्वके लोगोंके मनकी बात होती है, चाहे वह उनके लिये हानिकर ही क्यों न हो । पर जहाँ शुद्ध सेवाकी भावना होती है, वहाँ प्रत्यक्ष सुखकी ओर न देखकर सेवक सेव्यके हितकी ओर देखता है। इससे यदि कहीं आपरेशनकी आवश्यकता होती है तो उसमें भी संकोच नहीं होता । भगवान्‌की सेवामें विश्वकी सेवा अपने-आप होती है और इससे जो सेवा होती है, वह निरभिमान भावसे होती है, चाहे उसका रूप कुछ भी हो । भगवत्सेवाके भावसे अर्जुनने युद्ध किया इससे विश्वकी सेवा अपने-आप हुई । पर यदि अर्जुन भगवान्‌को भूलकर अभिमानपूर्वक विश्वकी सेवा करते तो वे भगवत्सेवासे विमुख हो जाते

और सेवा तो होती ही नहीं । मनुष्य बहुत बार विश्वकी सेवाके नामपर अभिमानकी ही सेवा करता है ।

७५–कार्य करते हुए भगवान्‌का स्मरण करो और भगवत्स्मरण करते हुए कार्य करो—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है । पहलेमें कार्य मुख्य है, दूसरेमें स्मरण । स्मरण निरन्तर चले; बीचमें जब काम आ गया, कर लिया । यही ठीक है ।

७६–भय, चिन्ता, विषाद, शोक आदिका प्रधान कारण भगवान्‌पर अविश्वास ही है । भगवान्‌पर विश्वास न होनेसे और संसारके पदार्थोंपर विश्वास होनेसे ही भय, चिन्ता आदि उत्पन्न होते हैं । संसारकी वस्तुएँ न तो पूर्ण हैं और न नित्य ही । अतएव उनपर विश्वास करनेसे भय, चिन्ता, विषाद आदि होंगे ही ।

हम तो अपने मनकी बात करवाना चाहते हैं कि अमुक वस्तु अमु रूपमें हो जाय। इसीसे हमें भय-चिन्ता आदि होती हैं।

७९—भयसे क्या होता है?— बिना हुए भी मनुष्य आशंक कर लेता है। संदेह होनेपर चेष्टाएँ विपरीत दिखायी देने लगत हैं। भयसे आत्मविश्वास चला जाता है, भयसे साहस जाता है, भयसे प्रयत्नमें कमी आती है, भयसे अविश्वास होता है, भयसे चिन्त उत्पन्न होती है और भयसे मृत्यु होती है। भय अनेक बुराइयोंक मूल है। मनमें भय न रहनेसे साहस होता है और हम सच्चे भयसे भी त्राण पा जाते हैं।

८०—शास्त्रमें जिसके लिये जो कर्तव्य विहित है, उसीके अनुसार चलना—संयम और नियमबद्ध होकर शास्त्रोक्त कर्तव्यका पालन करना, यह सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका साधन है। इंजन जहाँतक पटरीपर है, उसे चाहे जहाँ ले जाइये, पर यदि वह पटरीसे उतर गया तो फिर न तो इच्छित दिशाकी ओर उसे ले जाया जा सकता है और न सहज ही टूट-फूटसे ही बच सकता है।

८१—पाप और पतनका मूल है विषय-चिन्तन और विषयोंमें सुख-बुद्धि। भगवान्‌में ही सुख है, अन्यत्र कहीं है ही नहीं—इस आस्थाको लेकर मन भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाय तो विषय ये ही रहेंगे, पर फिर ये हमारे लिये बाधक सिद्ध नहीं होंगे। उस समय विषय भगवान्‌की पूजाके फूल बन जायँगे और हमारा मानव-जीवन सफल हो जायगा।

८२—पापकी गति भजनकी गतिसे बहुत पीछे रह जाती है।

८३—सत्संगका अर्थ वास्तवमें यही है कि वह हमें सत

( भगवान् ) के साथ युक्त कर दे ।

८४—भगवत्-पूजाके लिये विषय-चयन और सुखकी प्राप्तिके लिये विषय-चयन—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है । जब हम सुखकी प्राप्तिके लिये विषय-चयन करते हैं, तब सुख तो हमें मिलता ही नहीं, पद-पदपर आघात लगते हैं । साथ ही पापोंका ही पर्याप्त संग्रह हो जाता है । परंतु यदि भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीके रूपमें हम विषयोंका चयन करें तो वे विषय वैध तथा शुभ होते हैं; क्योंकि वे भगवदनुकूल होते हैं । उनमें पाप नहीं होता और सुख भी असीम मिलता है ।

८५—आनन्द और सुखमें अन्तर है । दुःखका प्रतिद्वन्द्वी सुख है और आनन्द तो केवल आनन्द-ही-आनन्द है । आनन्द भगवान्‌में है । भगवान् आनन्दस्वरूप हैं । यदि हम जगत्‌को भगवान्‌से भरा हुआ देखते हैं और प्रतिक्षण उनकी लीलाका दर्शन करते हैं तो हमें सदा सर्वत्र आनन्द ही प्राप्त होता है । ऐसा न करके भगवान्‌को छोड़कर हम केवल जगत् और उसके कार्योंको देखते हैं तो वह निश्चय ही अशाश्वत है और दुःखालय है ।

८६—जहाँ द्वेष है, वहाँ दुःख है । और जहाँ प्रेम है वहाँ सुख है । जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें हमारा राग-द्वेष है, इसीलिये हमें सुख-दुःख होते हैं । भगवान्‌के नाते सबके प्रति यदि हमारा प्रेम हो जाय, मैत्री हो जाय, फिर चाहे कितना ही व्यवहारभेद रहे, हमें सर्वत्र सुख ही प्राप्त होगा । जैसे अपने शरीरके सब अङ्गोंमें व्यवहार-भेद होते हुए भी आत्मीयता एक-सी है, इसी प्रकार जगत्‌में सबके प्रति आत्मीयताका भाव होना चाहिये । फिर किसीके द्वारा विपरीत व्यवहार होगा, तो भी हमें उसपर रोष नहीं होगा । दाँतसे यदि जीभ

कट जाती है तो कष्ट होनेपर भी दाँतपर कोई क्रोध नहीं करता।

८७–जगत्‌में हम शुभ देखना सीखें, भलाई देखना सीखें तो इसमें अपने-आप सुख मिलेगा।

८८–जहाँ सुख रहता है, वहाँसे सुखका ही वितरण होता है और जहाँ दुःख रहता है, वहाँसे दुःखका ही—यह नियम है। भण्डारमें जो चीज होगी, वही तो दी जायगी।

८९–यह सत्य है कि जगत्‌में कोई किसीका बुरा नहीं कर सकता। जिसका बुरा होता है, वह उसके अपने ही किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप होता है, दूसरा कोई तो उसमें निमित्तमात्र होता है। पर निमित्त बननेसे उसको उसके अनुरूप फल भोगना पड़ता है। इसलिये मनुष्यको सावधान रहना चाहिये कि वह किसीके दुःख और अहितमें निमित्त न बने और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'भगवन्! न तो मुझे किसीके दुःखमें निमित्त बनावें और न किसी अन्यको मेरे दुःखमें। मेरे दुःखमें कोई निमित्त बनेगा तो उसके फलस्वरूप उसे दुःख होगा। मेरा प्रारब्धफल मुझे अनिच्छासे ही मिल जाय।' यदि सभी ऐसा सोचने लगें तो कोई भी किसीके दुःखमें निमित्त न हो।

९०–यदि मनुष्य रोगमें तपकी भावना करे तो उसे तपका फल मिलता है और मृत्युमें निर्वाणकी भावना करे तो वह मुक्त हो जाता है।

९१–प्रारब्धको चाहे मनुष्य न पलट सके (और उसे पलटनेकी आवश्यकता भी नहीं है), पर दुःखसे तो वह छुटकारा पा सकता है। वह ऐसा बन सकता है कि दुःख नामकी वस्तु उसके लिये कहीं रहे ही नहीं। दुःख दारिद्र्य आदिमें नहीं है, मनमें है। जगत्‌में जितने भी दुःखके कारण दीखते हैं, उनमें किसीमें

। दुःख नहीं है। यदि दुःखमें हम भगवान्‌को देखें, उसमें भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करें—ऐसा अनुभव करें कि यह हमारे परम प्रियतम प्रभुका मङ्गलमय विधान है तो दुःख हमारे लिये सुख बन जायगा।

९२—विचारोंके अनुसार हमारी भावना होती है और भावनाके अनुसार परमाणु बाहर निकलते हैं। अतएव सद्-विचारोंसे अपना तथा जगत्—दोनोंका भला होता है।

९३—बुरे विचारोंके स्थानपर सावधानीके साथ भले विचारोंको तेजीसे अपने हृदयमें भरना प्रारम्भ कर दे। फिर बुरे विचार बिना ही चेष्टाके अपने-आप ही क्षीण हो जायँगे। उनके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। शुभ विचारोंमें अशुभ विचारोंकी अपेक्षा शक्ति अधिक होती है। हृदयमें शुभ विचारोंकी प्रबलता देखकर बुरे विचार स्थान छोड़कर भाग जायँगे।

९४—शुभ सात्त्विक विचार मनके मौनमें बहुत सहायक होते हैं। विचारोंके सर्वथा त्यागका प्रयत्न छोड़कर पहले शुभ विचार करने चाहिये। वे शान्ति देनेवाले—विचारोंकी परिसमाप्ति करनेवाले होते हैं और असात्त्विक—रजोगुणी, तमोगुणी विचार मनको चञ्चल बनानेवाले। इसलिये अशुभ विचारोंका त्यागकर शुभ विचारोंका संग्रह करना चाहिये। मनका मौन—शान्ति शुभ विचारोंके फलस्वरूप ही आती है। शुभ विचारोंका अन्तिम परिणाम होता है—भगवान्‌में स्थिति।

९५—निकम्मा मन प्रमाद करता है। अतएव मनको निरन्तर कर्मशील रक्खे। निरन्तर प्रयत्न करता रहे शुभको अपने अंदर भरनेका। कानसे शुभ सुने, आँखसे शुभ देखे, मुखसे शुभ बोले, हाथोंसे शुभ करे, पैरोंसे शुभ स्थानोंमें जाय आदि।

९६—भगवान् सबके प्रति समान भावसे प्रेम करते हैं, सबको सम भावसे अपने कल्याणमय गुणोंका आस्वादन कराना चाहते हैं, सम भावसे सबपर उनकी कृपा बरस रही है, कोई भी उस अनधिकारी नहीं। पर जो भगवान्‌के सामने नहीं आना चाहता, उनसे लाभ उठाना नहीं चाहता—वह अवश्य वञ्चित रह जाता है सूर्य सबको समान भावसे प्रकाश और ताप देता है, पर जो व्यक्ति किसी अँधेरी कोठरीमें बैठे और दरवाजा बंद करके उसपर का पर्दा डाल दे तो उसे सूर्यका प्रकाश नहीं मिलता। इसमें सूर्यका पक्षपात नहीं; वह स्वयं ही सूर्यसे प्रकाश नहीं लेना चाहता।

९७—भगवान्‌के साथ नित्ययुक्त रहना सारी व्यवस्थाओंक और सुख-शान्तिकी आधारभूमि है और भगवान्‌से वियुक्त हो जाना उनको भूल जाना—यही सारे दुःखों, पापों, चिन्ताओंकी जड़ है

९८—जो विश्वास कर लेता है कि एकमात्र भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, एकमात्र भगवान् ही मेरे त्राणकर्ता हैं—उससे इस समय यदि पाप भी होते हैं, उसमें कुछ बुरी चीज भी है, तो भी वह शीघ्र ही साधु बन जाता है; क्योंकि उसका यह निश्चय यथार्थ है। ऐसा निश्चय होते ही भगवान्‌का आश्रय मिल जाता है तथा भगवान्‌का आश्रय मिलते ही सारी अच्छाइयाँ अपने-आप वैसे ही आ जाती हैं, जैसे हिमालयमें पहुँचनेपर ठंडक आ जाती है; क्योंकि वहाँ वही है।

९९—भगवान्‌का विश्वास ही एकमात्र ऐसी चीज है, जो सब अच्छाइयोंको ला देता है। हम कैसे हैं, क्या हैं—यह न देखकर भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह देखना अधिक लाभकारी है; इसीमें वास्तविक लाभ है।

१००—भगवान्‌का बल, भगवान्‌की कृपाका बल, भगवान्‌की

दयाका बल ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने सब प्रकारके बल परास्त हो जाते हैं। हो क्या जाते हैं, सब परास्त हैं ही।

१०१—मनुष्यको अपनी अयोग्यतापर—अपने अपराधोंपर विश्वास करनेके बदले भगवान्‌की अतुलनीय शक्ति-सामर्थ्यपर विश्वास करना चाहिये। अपनी अयोग्यतापर विश्वास करनेसे उत्साहमें कमी आती है, भगवान्‌पर विश्वास करनेसे निराशामें भी उत्साह आ जाता है।

१०२—भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये वर्ण, जाति, विद्वत्ता, भौतिक बल या धन-सम्पत्ति आदिकी आवश्यकता नहीं; वहाँ आवश्यकता है केवल सरल विश्वासकी। ऐसा विश्वास कोई भी कर सकता है; क्योंकि इसमें धन, विद्या आदि भौतिक साधन कुछ भी नहीं चाहिये। अतएव यह बड़ा आश्वासन है। विश्वास-भरोसा करनेपर भगवान्‌की जितनी भी अच्छाइयाँ हैं, जितना भी सौन्दर्य-माधुर्य है, जितना भी ऐश्वर्य है—सब अपने-आप प्रस्फुटित होने लगता है।

१०३—शान्ति, सुख, सद्गुण—ये भगवान्‌पर विश्वास होते ही आ जाते हैं। ये पहले आ जायँ, तब विश्वास होगा यह कैसे हो सकता है। हम चाहे अपने क्षोभका नाम शान्ति रख लें, सुख रख लें; पर वास्तविक बात यह है कि जबतक हमारे मनमें भगवान्-पर विश्वास नहीं, भौतिक पदार्थोंपर विश्वास है; दैवी गुणोंपर विश्वास नहीं, आसुरी सम्पत्तिपर विश्वास है, तबतक शान्ति-सुख आदि आ नहीं सकते।

१०४—सद्गुणोंकी पूजा और सद्गुणोंके परम आश्रयस्वरूप भगवान्‌की पूजा—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। यदि हम भगवान्‌को अपने जीवनमें उतार लें तो सद्गुण अपने-आप आ जायँ। पर यदि

२—प्रार्थनाका स्वरूप है—भगवान्‌के साथ विश्वासपूर्वक [अपने] चित्तका अनन्य संयोग कर देना। ऐसा हुए बिना भगवान्‌से प्रा[र्थना] होती ही नहीं।

३—प्रार्थनामें श्रद्धा-विश्वास तो है ही, इनके बिना तो प्रा[र्थना] होती ही नहीं; पर दो बातोंकी और आवश्यकता है—पहली, इ[तना] आर्तभाव, जो भगवान्‌को द्रवित कर दे और दूसरी, भगवान[्की] कृपालुतामें ऐसा परम विश्वास—कि प्रार्थना करनेमात्रकी देर [है,] प्रार्थना करते ही वह कृपालु माँ मुझे अपनी सुखद गोदमें ले ही लेग[ी।]

४—उत्तम चीज यह है कि हम भगवान्‌का प्रेमपूर्ण भजन ही चा[हें।] हमारा कल्याण हो या न हो, इसकी हमें परवा ही नहीं होनी चाहिये।

५—भक्तका सर्वोत्तम भाव यह है कि भजनको छोड़कर [वह] भगवान्‌को भी नहीं चाहता। वस्तुतः ऐसा होता ही नहीं कि भगवा[न्] मिल जायँ और भजन छूट जाय। पर यदि ऐसी कल्पना करें तो [भक्त] भगवान्‌को छोड़ देगा पर भजन नहीं छोड़ सकता।

६—साधनाकी सिद्धि—चाहे पारमार्थिक हो, चाहे लौकिक—विश्वास करनेपर बहुत जल्दी होती है।

७—जो प्रार्थना शब्दोंकी होती है, वह नकली होती है[।] यों बैठें, यों शब्द पुकारें, इसमें तो नकलीपन आता है। प्रार्थना ज[ो] मनसे होती है, वही असली होती है।

८—भगवान् ही एकमात्र मेरे हैं, मेरे परम सुहृद् हैं अर्थात् भगवान्‌पर विश्वास और भगवान्‌में अनन्यता—जहाँ ये दो बातें होती हैं वहीं प्रार्थना सिद्ध होती है। यह केवल भौतिक क्षेत्रमें ही नहीं होते, साधना-क्षेत्रमें भी यही बात है। भक्त ध्रुवके जीवनमें हमें इसका

प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है।

९–प्रार्थनासे पहले ही भगवान् उत्तर देते हैं, यह बिल्कुल सत्य है। भगवान्‌के यहाँ योजना पहलेसे ही बनी रहती है। प्रार्थना करनेपर वह प्रकट हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो आवश्यकताके ठीक अवसरपर प्रार्थना करनेसे वह कैसे सिद्ध हो जाती है।

१०–लौकिक पदार्थोंके लिये प्रार्थना करना पाप नहीं। पर इसमें हमारा कमीनापन है, ओछापन है। जो वस्तु जानेवाली है, असत्य है, उसके लिये प्रार्थना करना, भगवान्‌के विश्वासको, भगवान्‌के भजनको कौड़ियोंके बदले खोना बड़ा बुरा है। अतएव ऐसा नहीं करना चाहिये, इससे सदा बचना चाहिये। इसमें यह हानि है कि हम बहुत बड़े लाभसे वञ्चित हो जाते हैं। यदि हमारी पूर्ण श्रद्धा न होनेसे कहीं वह प्रार्थना सफल न होगी तो उससे भगवान्‌के प्रति अविश्वास भी हो सकता है। अतः सकाम प्रार्थनासे बचना चाहिये। भगवान्‌के लिये भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये—'आपकी इच्छा पूर्ण हो और आपकी इच्छा मङ्गलमय है।' पर इसमें यह बात न हो कि 'बिना माँगे अपने-आप अधिक मिल जायगा।' श्रीतुलसीने केवल दो ही चीजोंके लिये प्रार्थना की—आपका भजन होता रहे और आपके भक्तोंका संग होता रहे—

> बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
> पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

११–भगवान्‌के अवतार दो प्रकारके होते हैं—जनानुकरणयुक्त और जनानुकरणरहित। कच्छप, नृसिंह आदि अवतार जनानुकरणरहित हैं; इनमें भगवान् किसी माता-पितासे जन्म ग्रहण नहीं करते; भगवान् गर्भमें रहे, ऐसी लीला नहीं होती। पर जनानुकरणयुक्त

२१–जो श्रीभगवान् और उनके भक्तोंका अपमान करते उनपर कभी भी कृपा नहीं होती। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंव चरणाश्रय ही जीवको पार करता है। और सच तो यह है कि श्रीभगवद्भक्त-चरणाश्रयके बिना श्रीभगवान्के चरणोंका आश्र नहीं प्राप्त होता।

२२–भगवान्के भक्तोंकी अवज्ञा करके अथवा उनके साथ सम्बन्ध न रखकर जो भजन करता है, उसका भजन व्यर्थ जाता है।

२३–भक्तिमार्गका साधक बड़ा चौकन्ना रहता है; वह डरत है कि मुझसे कोई अपराध न बन जाय। अतएव उससे ज्ञानकृत (जान-बूझकर किये गये) अपराध नहीं होते। जो ज्ञानके उपासक हैं, उनसे भी जान-बूझकर कोई अपराध नहीं बनते। पर जो लोक-प्रतारणाके लिये ज्ञानका दम्भ करते हैं, उनके द्वारा ज्ञानकृत अपराध होते रहते हैं। निरन्तर चौकन्ना रहनेपर भी भक्तके द्वारा अज्ञानकृत अप-राध तो बन ही जाते हैं। पर भक्तोंको भगवान्का सहारा होता है, वे भगवान्के आश्रित होते हैं; उन्हें बचानेवाले भगवान् विद्यमान हैं। अतएव अज्ञानकृत अपराधोंसे भगवान् उन्हें मुक्त कर देते हैं।

२४–भगवान्के परम आश्रित जो अनुरागी भक्त हैं, उनका मन पाप-पुण्यसे दूर होता है; वे पाप-पुण्यका चिन्तन नहीं करते, वे चिन्तन करते हैं भगवान्का। उनके मनमें सिवा भगवच्चिन्तनके और कुछ होता ही नहीं। अतएव निषिद्ध कर्मोंमें—पापोंमें उनका मन जाता ही नहीं। पर कहीं अनजानमें कोई पाप हो भी जाय तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं।

२५–वनमें आग लगती है तो पेड़ जल जाते हैं, परंतु उनकी जड़ शेष रह जाती है। ऐसे ही अन्यान्य साधनोंसे जिन पापोंका नाश होता है, वे निर्मूल नहीं होते, उनकी जड़ प्रायः रह जाती है। पर जिन्होंने श्रीभगवान्का चरणाश्रय ले रक्खा है, उनके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं, उनके पुनः अङ्कुरित होनेका डर नहीं रहता।

२६–भगवान्के चरणोंका आश्रय करनेपर जीवको अनायास मुक्ति मिलती है, पर भगवान्के चरणोंका अनाश्रय करनेपर विभिन्न साधनोंके द्वारा सिद्धिके पदपर आरूढ होनेपर भी स्खलन—पतन हो जाता है।

२७–भक्तिसे रहित जो ज्ञान या योग है, वह ब्रह्मका साक्षात् तो कराता है, पर उसमें बड़े विघ्न हैं; किंतु भक्तियोग परम स्वतन्त्र है, विघ्नरहित है। इसमें स्वयं भगवान् उसे संसार-सागरसे तुरंत पार ले जाते हैं; क्योंकि इसमें श्रीगोविन्द-चरणोंका आश्रय रहता है। भक्ति निरपेक्ष है। अतएव भक्तिके उपासकको ज्ञान, योग आदिकी आवश्यकता नहीं रहती।

२८–भक्त प्रारम्भसे ही भगवत्कृपाकी डोरीसे बँधे हुए चलते हैं। अतएव जहाँ पैर फिसला कि भगवान्ने डोरी खैंची। इससे भक्त कभी गिरते नहीं।

२९–जो श्रीभगवान्के चरणाश्रित भक्त हैं, उनकी नित्य प्रार्थना होती है कि हमें चरण-सेवा मिलती रहे। अतएव भगवान् अपने स्वभाव-वश उन्हें अपनी चरण-सेवा ही देते हैं।

३०–भगवान्के चरणोंका आश्रय करके जो भगवान्के हो जाते हैं, वे कभी गिरते नहीं; क्योंकि भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। भक्त किसी भी प्रकारके विघ्नसे डरते नहीं, क्योंकि विघ्नोंका नाश

करनेवाले भगवान् उनके सहायक जो हैं । विघ्नोंका सेनापति भी आ जाय तो भी वे विचलित नहीं होते ।

३१—भक्तोंमें निरन्तर दैन्य बढ़ता रहता है । पद-पदपर भगवत्-कृपाका अनुभव करते रहनेसे उनमें सरलता बढ़ती है और भगवान्‌की कृपाको निरन्तर अनुभव करनेकी लालसा बढ़ती है । अतएव वे कभी गिरते नहीं और कहीं गिरते भी हैं तो भगवान् अपने-आप उनको बचाते हैं, उनका निर्वाह करते हैं और उन्हें अपने धाममें ले जाते हैं।

३२—भगवान्‌की स्वप्रकाशिका शक्ति है विशुद्ध सत्त्व; वही वसुदेव हैं । श्रीभगवान् उसीसे अपनेको प्रकट किया करते हैं ।

३३—भगवान्‌के रूपदर्शनमें उनकी कृपा कारण है, न कि भौतिक प्रकाश । भगवान्‌की कृपा होनेपर अन्धा मनुष्य भी घने अन्धकारमें भी उनके दर्शन कर सकता है । पर भगवान्‌की कृपा न होनेपर करोड़ों सूर्योंका प्रकाश तथा करोड़ों आँखें प्राप्त होनेपर भी उनका दर्शन नहीं हो सकता ।

३४—सारे दुःखोंका आत्यन्तिक नाश हो जाय और परमानन्द-की प्राप्ति हो जाय—यह भगवान्‌के चरणोंकी कृपा बिना नहीं होता। कर्मफलरूप स्वर्गादिकी प्राप्ति हो सकती है, पर वहाँ दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव नहीं होता । इसी प्रकार ब्रह्म-सायुज्यमें जीवोंके दुःखोंका तो आत्यन्तिक नाश हो जाता है, पर उन्हें प्रेममय परमानन्दका भोग नहीं मिलता । श्रीभगवान्‌के चरणाश्रित भक्त आनन्द-समुद्रसे उठी हुई आनन्द-तरङ्गोंका उपभोग करते हैं ।

३५—भगवान्‌का श्रीविग्रह क्या है ?—दिव्य अनन्त आनन्दकी घनीभूत मूर्ति । क्षुद्र विषय-सुखसे लेकर ब्रह्मानन्दतक सब उस घनी-भूत आनन्द-समुद्रके बिन्दुकणमात्र हैं ।

३६–भक्तोंकी उत्कण्ठासे ही भगवान् अपनी नित्यसिद्ध मूर्तिको
: करके लीला करते हैं ।

३७–जीव अपने दुःखकी गाथा भगवान्के सामने रखना जाने या
ाने, भगवान् उसके लिये जो हित है, वह स्वतः करते रहते हैं। पर
किसीपर दुःख पड़ता है, तब वह भगवान्के अन्तर्यामी स्वरूपको
नते हुए भी चिल्ला उठता है–'भगवन् ! मेरी रक्षा करो !' बस,
ाँपर भूल होती है ।

३८–भगवान् जगत्में आते हैं—रसास्वादनके लिये, अपने
व्य आनन्द-रसका स्वयं पान करनेके लिये, अपने सखाओंके द्वारा
ख्यरसका, अपने प्रेमियोंद्वारा मधुररसका और अपने माता-पिता
ादिके द्वारा वात्सल्य-रसका । इन रसोंका भगवान् स्वयं आस्वादन
ारते हैं और अपने माता-पिता-सखा आदिको कराते हैं ।

३९–भगवान्का जन्म अलौकिक है । वात्सल्यप्रेममयी कौसल्या
ा देवकी-यशोदाको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि मेरे पेटमें
ालक है तथा गर्भके सब लक्षण भी दीखते हैं । पर वास्तवमें
ागवान् न तो जीवकी भाँति गर्भस्थ होते हैं और न माताके खाये हुए
अन्नसे उनका शरीर बनता है । जो गर्भस्थ होता है तथा माताके खाये हुए
अन्नसे बनता है, वह अविनाशी नहीं होता, न दिव्य ही होता है ।
पर भगवान्का शरीर तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, भगवान् ही है ।

४०–अन्तर्यामीरूपमें भगवान् सबके हृदयमें हैं, पर प्रेमियोंके
हृदयमें वे प्रेमके सम्बन्ध-रूपसे रहते हैं, जैसे वात्सल्यभाववालेके हृदयमें
पुत्ररूपमें, माधुर्यभाववालेके प्रियतमरूपमें, सख्यभाववालेके सखारूपमें।

४१–भगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपका दर्शन किसीको होना,
न होना—यह भगवान्की इच्छापर निर्भर है ।

४२–मनुष्य भगवान्‌को देखकर भी अपनी बहिर्मुखताके का विपरीत भावको प्राप्त होता है और भगवान्‌के माधुर्यको नहीं दे पाता। प्रेमी भक्तोंमें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार सानन्द-आस्वादन भेद होता है।

४३–श्रीकृष्ण-प्रेमका यह स्वभाव है कि भक्त अपनेको तो भूल जाता है, पर श्रीकृष्णके साथ अपना क्या सम्बन्ध है और उनकी सेवा क्या, कैसे करनी है—यह वह कभी नहीं भूलता।

४४–भगवान्‌को देखनेकी, पानेकी वासना-कामना जिनके मनमें जाग्रत् हो जाय—वहाँ कोई बन्धन रहता है क्या? बन्धन तभीतक है, जबतक हमारे मनमें जगत्‌के भोगोंकी वासना है।

४५–दो प्रकारके संसारमें लोग हैं—दीन और अदीन। अधिक लोग दीन हैं; दीनात्मा हैं— यह चाहिये, वह चाहिये, इसकी कमी है, उसकी कमी है—अर्थात् वे जीवनभर अभावका ही अनुभव करते रहते हैं।····जो कामनावाले हैं, जिनके मनमें तृष्णा है, जो सदा अभावका अनुभव करते हैं, वे दीन हैं। वे सदा दुखी रहते हैं। दूसरी श्रेणी-के लोग अदीन हैं, जिनको कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती, ऐसे अदीन वे हैं जो सदा भगवान्‌के भावमें तन्मय रहते हैं, जिन्हें कभी भी अभावका बोध होता ही नहीं।

४६–कोई भाग्यवान् व्यक्ति निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है तो भगवान् अपने सच्चिदानन्दविग्रहसे उसके सामने प्रकट होते हैं पर श्रीभगवान्‌को भजकर, भगवान्‌की आराधनाके बदलेमें, भगवत्प्रेमके बदलेमें जो भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि चाहते हैं, वे भक्त ही नहीं हैं; वे भक्तिके महत्त्वको जानते ही नहीं। भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि—ये भक्तिके वास्तविक फल नहीं हैं; भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि तो भक्तिकी

चेरियाँ हैं। वस्तुतः भगवान्‌के दिव्य लीला-विग्रहका दर्शन, उनकी नित्यसेवाका अधिकार—यही भक्तिका, भगवत्प्रेमका फल है।

४७—साधक वह है, जो किसी सिद्धिके लिये चेष्टा करता है, किसी चीजके साधनेमें लगा है। भगवत्प्राप्तिका साधन ही परम साधन है; क्योंकि भगवान्‌को पानेके बाद कुछ भी पाना रह नहीं जाता। प्रभुको जिसने अपने जीवनका लक्ष्य बना लिया, उसका जीवन कैसा होना चाहिये, इसीपर यहाँ कुछ विचार करना है।

४८—सबसे पहली और सबसे मुख्य बात है लक्ष्यकी स्थिरता और लक्ष्य स्थिर हो जानेपर प्राणपणसे उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न। 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।' शरीरतकको भी लक्ष्यके लिये आगमें झोंक दे, सर्वथा समर्पित कर दे। सारी इन्द्रियोंसे केवल एक भगवान्‌की ही सेवा हो, सब श्रीभगवान्‌के काममें ही लगी रहें। बाहरी और भीतरी—दोनों ही प्रकारकी इन्द्रियाँ भगवान्‌की सेवामें लगी रहें।

४९—साधकको चाहिये, एक भगवान्‌को छोड़कर अन्य सभी बातोंके लिये—विषयोंके लिये वह बुद्धिहीन हो जाय, अन्धा हो जाय, बहरा हो जाय, गूँगा हो जाय, लूला हो जाय और लँगड़ा हो जाय।

५०—इसका कारण यह है—इन्हीं मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे भगवान्‌की प्राप्ति भी होती है और इन्हींसे विषयोंका सेवन भी। परंतु यह है एक दूसरेका सर्वथा विरोधी। इस अवस्थामें जो भगवद्विरोधी साधन है, जो विषयोंमें फँसानेवाले विषय हैं, उनका हठपूर्वक परित्याग कर दे और जो प्रभुके मार्गमें ले जानेवाले साधन हैं, उनका दृढ़तासे ग्रहण करके पूरी निष्ठा एवं लगनसे उनमें लगा रहे। विषय

भगवत्पथमें भयंकर बटमार हैं और स्थान-स्थानपर खड़े रहते हैं। बड़ी सावधानी और सतर्कताके साथ इनसे बचता हुआ चले। साधक यदि निरन्तर अपने लक्ष्यका स्मरण रक्खे तो भगवत्कृपासे वह कभी भी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता।

५१—सब इन्द्रियाँ भगवान्‌को ही विषय करें। कानसे उन्हींका नाम सुनें, आँखोंसे उन्हींका रूप देखें, हाथोंसे उन्हींकी सेवा करें, पैरोंसे उन्हींके पुण्य-तीर्थोंमें भ्रमण करें, बुद्धिसे भी उन्हींको समझें। 'उन' एकके सिवा इन्द्रियाँ किसीको कुछ जानें ही नहीं—

**कानन दूसरो नाम सुनै नहिं, एकहि रंग रँगौ यह डोरो।**
**धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥**
**ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै, हम कैसेहु टेक तजैं नहिं भोरो।**
**बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो॥**

५२—समस्त अङ्ग केवल उसीका अनुभव कर रहे हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसी एकको विषय कर रही हैं। आँखें सम्पूर्ण विश्वको श्याम-मय देखती हैं। जबतक मनुष्य दूसरी बात देखता-सुनता है, सोचता-विचारता है, तबतक उसकी बुद्धि बहुशाखावाली है, व्यभिचारिणी है।

५३—संसारके सुधारके लिये साधक परेशान न हो, पहली बात और सबसे मुख्य बात तो उसके लिये यही है कि लक्ष्यतक किस प्रकार पहुँचा जाय। संसारकी दृष्टिमें जो अधिक बुद्धिमान् बनता है, उसीके लिये अधिक खतरा है। जगत्‌में मूर्ख कहलाना बुरा नहीं, यदि वास्तवमें हम मूर्ख न हों। असलमें मूर्ख वही है, जो भगवान्‌से विमुख है। जो बुद्धि हमें नरकाग्निमें ढकेल देती है, जिसके द्वारा हम विषय-प्रवाहमें बह जाते हैं, वह बुद्धि किस कामकी? जो बुद्धि हमें सुखके केन्द्रसे हटाकर दुःखके केन्द्रमें पहुँचा देती है,

जिसके कारण हम हीरेको खोकर बदलेमें काँच ले लेते हैं, वह बुद्धि हमारी सच्ची हितकारिणी कहाँ है।

५४—मनुष्यका शरीर इसलिये थोड़े ही मिला है कि हम आकण्ठ गंदे भोगसमुद्रमें ही डूबे रहें—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अमृतको खोकर विष लेनेवाला, पारसको खोकर घुँघ[ची] लेनेवाला मूर्ख नहीं तो क्या है? भगवान्‌को छोड़कर विषयों[का] सेवन करनेवाला तो उससे भी भारी मूर्ख है; क्योंकि वह मूर्खता[से] अपनेको नरक-कुण्डमें डालनेका उपाय सोच रहा है।

५५—बुद्धिमान् तो वास्तवमें वह है, जो नित्य भगवच्चरण-चिन्त[नमें] लगा है। भगवान्‌को भूलकर विषयोंका सेवन करनेवाला तो महा[मूर्ख] है। विषयोंकी ओरसे मूर्ख बन जाय। भजनका धन बटोरनेमें [लगा] रहे। प्रपञ्चसे मुख मोड़ ले। जगत्‌में बुद्धिमान् कहलाया कि [फँसा,] बोला कि फँसा। बुद्धिमानी की कि गया।

५६—श्रीशत्रुघ्नजी जीवनभर नहीं बोले। वे तो प्रभुके भ[क्तके] भक्त थे। भरतजीके संकेतपर नाचना ही उनका एकमात्र काम [था।] वे भरतजीकी छाया बनकर रहे। पर लवणासुरके मारनेका अवसर आया, तब वे भगवान् राघवेन्द्रसे बोल उठे कि 'आज्ञा

मैं उसका वध कर आऊँ।' भगवान्‌ने कहा, 'बहुत ठीक, पर तुम्हें मेरी आज्ञा नहीं टालनी होगी—जाओ, उसे जीतकर वहीं राज्य करो।' शत्रुघ्नजीने कहा—'भगवन् ! बीचमें बोलने और अपनी बुद्धिका परिचय देनेका मुझे तत्काल ही फल मिल गया। आपका वियोग हो गया।'

५७–जहाँ संसारकी बातोंमें अपनी बुद्धिमानी प्रकट की कि लोग उसकी बुद्धिमानीका लाभ उठाने लगेंगे और वह व्यक्ति भगवत्-प्राप्तिकी साधनासे हटकर विषयोंमें जा फँसेगा। मान-सम्मानकी वर्षा उसे बहा ले जायगी। जो संसारके लिये भोला है, गँवार है, वही मजेमें चुपचाप भगवान्‌का भजन कर सकता है। साधकके लिये जगत्‌की बुद्धिमानी बहुत बड़ा विघ्न है। जिस बुद्धिसे संसारमें पचना पड़े, असलमें उस बुद्धिको 'बुद्धि' नहीं कह सकते। जगत्‌की ओरसे बुद्धिहीन हो जाय, उसकी बुद्धि जगत्‌को सोचे ही नहीं।

५८–प्रपञ्चमें फँसे हुए व्यक्तिसे अनन्य साधना हो नहीं सकती ! बस, जडभरत बन जाय। जडभरत संसारकी दृष्टिमें बुद्धिहीन था, पर वास्तवमें वह कितना बुद्धिमान् था, इसका अनुमान भी हम नहीं कर सकते। जगत्‌की ओर अपनी बुद्धि न लगावे, नहीं तो फँसना पड़ेगा।

५९–असलमें शुद्ध बुद्धि भगवान्‌के सिवा और कहीं लगती ही नहीं ! बुद्धि जो निश्चयात्मिका होती है, वह 'एक' होती है। बहुशाखावाली नहीं होती। वह बुद्धि जल जाय, जो हमें अधिकाधिक जगत्‌के जालमें फँसाती जा रही हो, ऐसी बुद्धिके नाशके लिये तो भगवान्‌से प्रार्थना करे—

बना दो बुद्धिहीन भगवान !

× × × ×

भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान ।
प्रेमसिन्धु निज मध्य डुबाकर मेटो नाम-निसान ॥

६०—संसारकी ओरसे बुद्धिहीन तो हो ही, साथ ही अंधा भी हो जाय, एकमात्र अपने लक्ष्यकी ओर ही एकाग्र दृष्टि रक्खे । एक साँवरे रंगके सिवा अन्य कुछ दीखे ही नहीं ।

स्याम तन स्याम मन स्याम ही हमारो धन,
आठौं जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है ।
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है ॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभा धाम है ।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम रोम स्याम है ॥

श्यामके सिवा कुछ रहा ही नहीं—'जित देखौं तित स्याममयी है ।'

६१—किसी भौतिक सुखके लिये या सांसारिक तापकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना छोटी बात है । उनसे क्या माँगा जाय ? हमारे कारण हमारे कोटि-कोटिप्राणप्रतिम प्रियतमको कुछ भी कष्ट हो, यह प्रेमी साधक कैसे सह सकेगा ? एक समयकी बात है कि अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण रथपर कहीं जा रहे थे । अर्जुनको प्यास लगी । पास ही एक कुटिया थी । वहाँ अर्जुन गये तो देखते हैं कि एक वृद्धा तपस्विनी ध्यानमें मस्त है । अर्जुनने आश्चर्यसे देखा कि कुटियाके भीतर तेज नंगी तलवार और पिजाये

सो काम है और क्या, रोम-रोम श्याम-ही-श्याम है। दूसरा कुछ ही नहीं। जहाँ दृष्टि जाय, वहीं श्यामसुन्दर हैं। जगत्की ओरसे अंधा जाना यही है। मन यदि इन्द्रियोंका साथ न दे तो विषय दीखे ही नहीं। या मन तो मनमोहनमें लगा हुआ है। फिर इन्द्रियाँ भी उनके सिवा क्या देखें सुनें? इस तरह श्रीकृष्णमय जगत्को देखनेवाली गोपियोंकी एक बड़ी मधुर गाथा है। एक दिन एक गोपीने सखीसे पूछा—'बहिन! क्या कहूँ नन्द बाबा गोरे, यशोदाजी गोरी, दाऊजी गोरे, घरभरमें सभी गोरे, पर हमारे श्यामसुन्दर ही साँवरे कैसे हो गये?' इसपर एक कृष्णदर्शनमयी गोपीने कहा —'बहिन! क्या तू इतना भी नहीं जानती?' अरी—

कजरारी अँखियान में बस्यो रहत दिन-रात।
पीतम प्यारो हे सखी! तातें साँवर गात॥

गोपीकी कजरारी आँखोंमें केवल श्रीकृष्ण ही बसते हैं। जगत्में उसकी आँखें और किसीको देखती ही नहीं। भगवान्के सिवा उसके लिये कुछ रहा ही नहीं। आँखें जहाँ जाती हैं, वहाँ केवल हरि-ही-हरि होते हैं। शृङ्गारकी भाषामें प्रेमकी इतनी ऊँची दार्शनिक परिभाषा कहीं नहीं लिखी गयी। हरिको देख लेनेपर संसारका कोई रूप, कोई सौन्दर्य खींच नहीं सकता। 'उसे' देख लेनेके बाद जगत् तुच्छ हो जाता है। जगत्की ओरसे आँख उठ जाती है, और कुछ रहता ही नहीं। तमाम श्यामसुन्दर हो गया।

६४—इसी प्रकार सारे शब्द भगवान्की मुरलीकी ध्वनि हो जायँ। जगत्की ओरसे बहरा हो जाय। ऐसे ही भगवच्चर्चाके सिवा दूसरी बात बोले नहीं, बोले तो हरिका नाम, नहीं तो चुप रह जाय। बोलनेके कारण ही सुन्दरदास-जैसे महात्माको एक क्षीके

गर्भमें जाना पड़ा और जन्म लेना पड़ा। अधिक बोलनेवाला परचर्चा करता है, मिथ्या बोलता है और व्यर्थ बकवाद करता तथा चुगली करता है। जहाँतक हो सके गूँगा बन जाय। जगत्‌की बात न बोले। असत्य परुषभाषण, ग्राम्यचर्चा अधिक बोलनेसे ही होती है। लूले होनेका अर्थ यह है कि हाथ भगवान्‌की सेवाके लिये ही आगे बढ़ें, विषय-सेवनके लिये न बढ़ें। पंगुका अर्थ है, भगवान्‌का एकान्त आश्रय ले लेना। भगवान्‌की कृपाका भरोसा होनेपर वह पंगु ही गिरि-पर्वतोंको लाँघ जाता है। जो जगत्‌के लिये पंगु बन गया, वही उस पार पहुँच गया।

६५—इन्द्रियोंका संचालन विषयोंकी ओर जितना अधिक बढ़ेगा, उतना ही अधिक विषयोंका प्रपञ्च बढ़ेगा। प्रपञ्चका बढ़ना ही सर्वनाशको आमन्त्रण करना है। इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि सब विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा ले—'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।' यही है अन्तर्मुखी वृत्ति। भगवान्‌में वृत्तियोंका सहज प्रवाह हो, भगवान्‌में ही बुद्धि लगी रहे, जगत्‌में न लगे। वहाँसे मुख मोड़कर भगवान्‌में लगाना पड़ेगा। आगे चलकर जब सर्वत्र सम भावसे भगवान्‌की प्रतिष्ठा हो जायगी, तब सर्वत्र भगवान्‌का ही अखण्ड दर्शन होगा। सभी बाधाओंको हटाकर एक लक्ष्यमें लग जाय। आँख, कान, नाक, जीभ, बुद्धि, मन सभी एकमात्र भगवान्‌में ही लग जायँ। यही 'तदर्थ कर्म' है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

भगवान्‌को समझकर भगवान्‌की सेवाके लिये ही कर्म करें। यही भगवान्‌की अर्चा है। कार्यका अधिक विस्तार करे ही नहीं। प्रकृति तो अधोगामिनी है ही—वह हमें ले डूबेगी। इसलिये निश्चय-

## निर्भरता

६८—साधन मुक्तिके लिये होता है; परंतु एक ऐसा भी साधन है, जो स्वरूप और फल दोनोंसे परतन्त्रतामूलक है। वहाँ साधनका श्रीगणेश ही परतन्त्रताको लेकर होता है, परतन्त्रताका ही संबल होता है और फलरूपमें भी परतन्त्रता ही मिलती है। साधनावस्थामें भी परतन्त्रता और सिद्धावस्थामें भी परतन्त्रता। वह है प्रपत्तियोग। इसमें दो प्रकारके भाव होते हैं। पहले प्रकारका साधक अपने-आपको भगवान्‌की शरणमें डालता है और दूसरे प्रकारका साधक शरणमें ले लेनेके लिये भी भगवान्‌पर आश्रित रहता है। वह एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर करता है। पहलेमें शरण हो जायँ—इतने कालके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है, और दूसरेमें पुरुषार्थका सर्वथा अभाव है। बंदरीका बच्चा माके पीछे-पीछे चलता है और कहीं जाना होता है तो उछलकर माकी छातीमें चिपक जाता है, मा भागती है, वह स्वयं बच्चेको पकड़ती नहीं। बच्चा जब उसके हृदयमें आ छिपता है, तब उसे लिये भागती फिरती है। परंतु बिल्लीका बच्चा स्वयं कुछ भी नहीं करता—जहाँ मा ले जाना चाहती है, वहीं ले जाती है। निर्भरता है दोनोंमें; परंतु पहलेमें थोड़ा-बहुत पुरुषार्थका अभिमान है, दूसरेमें पुरुषार्थका सर्वथा अभाव है। इस निर्भरतामें सबसे बढ़कर सुखकी बात यह है कि प्रारम्भसे ही मनमें अपने भगवान्‌का साथ रहता है। क्योंकि बिना स्मृतिके निर्भरता किसपर की जाय ?

६९—निर्भरताकी प्रमाद और आलस्यमें गणना न कर ले। ऊपरसे निर्भरता और अकर्मण्यता एक-सी मालूम होती है—ठीक जैसे छोटे बालकका अज्ञान और बहुत ऊँचे उठे हुए महापुरुषका बालक-सा बर्ताव। बच्चेकी सारी बातें अज्ञानमें होती हैं और वहाँ

भक्तमें सब कुछ ज्ञानमें है। निर्भरताका साधन सबके लिये नहीं है। यह अजगरी वृत्ति है। चातककी वृत्ति भी ऐसी ही है। क्या करना चाहिये, क्यों करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह वह कुछ नहीं जानता। सब-का-सब उधरसे ही होता है, इधरसे नहीं। इधरसे बस, एक ही काम है—सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

निर्भर होकर बस, वह एक ही काम करता रहता है, वह है प्रभुका अखण्ड चिन्तन। क्या, क्यों, कब—इन सब बातोंकी स्मृति करनेवाला चित्त रह ही नहीं जाता। चित्त एकमात्र हरिमें रमता रहता है। जहाँतक निर्भरता नहीं होती, वहींतक अकर्मण्यता रहती है। पापसे छूटना, अमुक कार्य करना, अमुक कार्य न करना—इन सब बातोंकी भी उसे परवा नहीं होती। छोटा शिशु यह नहीं जानता कि यह साँप है अथवा मखमलकी कोई चीज, आग है या चमकीली और कोई वस्तु। परंतु उसकी रक्षाका पूरा-पूरा भार मातापर रहता है; क्योंकि वह मापर निर्भर है। इसलिये जिस कर्मसे बालककी हानि हो सकती है, वह ऐसे प्रत्येक कर्मसे उसे बचाती है। मा इस बातका बराबर ध्यान रखती है कि इसे किसी प्रकार कष्ट न हो, कोई दुःख न हो। उसी प्रकार यदि हम एकान्त भावसे भगवानपर निर्भर हो जायँ तो स्वयं भगवान् ही अपने ऊपर हमारे समस्त योगक्षेमका भार लिये रहते हैं।

७०—भक्तके लिये तो लौकिक या पारमार्थिक किसी प्रकारके योगक्षेमकी अपेक्षा रही हो नहीं। भगवान्‌ने 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' अत्यन्त

रहस्यपूर्ण बात कही है। जिसे अपने योगक्षेमकी चिन्ता है वह भक्त कैसा ? केवलमात्र भगवान्‌पर आश्रय रखकर पूरे विश्वासके साथ जो भगवान्‌की सकाम भक्ति होती है, वह भी स्तुत्य है। उसकी भी पूर्ति भगवान् कर देते हैं, परंतु जो भगवान्‌पर सर्वथा निर्भर है, जिसका एकमात्र लक्ष्य प्रभु या प्रभु-प्रेम है, जब प्रभुके सिवा स्पृहणीय वस्तु कोई रही नहीं; तब फिर लौकिक या पारमार्थिक योगक्षेमकी चिन्ता रहेगी ही क्यों ? अनन्य साधन इसीका नाम है। इसमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई वस्तु पानेको रही ही नहीं। अनन्य साधनमें भगवान्‌के सिवा न कोई उपाय है न पानेकी चीज ही। उसके लिये यह प्रश्न उपस्थित होता ही नहीं कि उसे क्या चाहिये और उसकी पूर्ति भगवान् कैसे करेंगे ? वह तो साधन और साध्य दोनोंमें भगवान्‌को ही समझता है।

७१—वास्तवमें निर्भरताके साधकको किसी वस्तुकी आवश्यकता रहती ही नहीं। यदि उसे आवश्यकताका ध्यान है तो उसका मन अनन्य साधनमें प्रवृत्त नहीं हुआ। भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा न उठना, किसी आवश्यकताका अनुभव न होना अनन्य साधन कहलाता है। जब अन्य वस्तुकी चाह ही नहीं रही, तब अन्य वस्तुके लिये भगवान्‌को क्यों चाहेंगे ? अन्य किसी वस्तुका स्मरण ही क्यों आवेगा ?

७२—सकाम भावकी अर्थार्थी भक्ति भी बहुत ऊँची और कठिन है। उससे भी हमारे प्रत्येक कर्मका फल मिल सकता है और फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् ही ढूँढ़ते हैं कि उसका अभाव क्या है ? निर्भरशील बालकको अपनी बीमारीका क्लेश है, पर उसका कष्ट तो उससे भी अधिक माको है। अबोध बालकके कल्याण तथा

हितकी परम चिन्ता केवल माको ही है। बालक तो स्वयं उस सम्बन्धमें निर्द्वन्द्व है ही।

७३–क्षेमका अर्थ यह नहीं है कि जो कुछ हम चाहते हैं, वही हो। उसका अभिप्राय यह है कि हमारे कल्याणके लिये जो उपयुक्त हो, वही हो। भगवान्‌के निर्भरशील भक्तका क्षेम भगवान् निभाते हैं–– स्वयं भगवान् वहन करते हैं। जिस वस्तुमें उसका वास्तविक हित अथवा कल्याण होगा, यदि उसके पास वह है तो उसकी वे रक्षा करेंगे और यदि उससे उसके कुशलका नाश होनेवाला होगा तो स्वयं भगवान् उसका नाश कर देंगे। क्षेमका यह भी अर्थ नहीं है कि जो कुछ हमारे पास है, वह रहे ही। जो हमारे वास्तविक मङ्गलका विरोधी होगा, उसका अन्त हमारी परम कल्याणकारिणी परम दयामयी मा कर ही देगी। भगवान् अपने भक्तकी चिन्ता ठीक वैसी ही करते हैं, जैसे एक मा अपने अबोध दुधमुँहे बच्चेकी।

७४–प्रपत्ति-साधनामें प्रारम्भसे ही प्रभुके चरणोंका अनन्य एकान्त आश्रय रहता है। इसमें साधनावस्थामें भी परतन्त्रता है और सिद्धावस्थामें भी। प्रभुपर यह इच्छा कैसे प्रकट की जाय कि 'मुझे यह चाहिये, ऐसा कर दो।' यह तो साधनामें कलङ्क लगाना है। शरणागति, प्रपत्ति अथवा निर्भरतामें तो साधन अथवा ध्येय दोनोंके लिये प्रभुका ही एकमात्र आश्रय होता है, भगवान्‌के आश्रयके सिवा न अन्य कुछ साधन है न फल ही। यह परतन्त्रता बड़ी प्यारी, बड़ी मीठी होती है।

७५–सेवक हो कठपुतली-जैसा। वह चाहे जो नाच नचावे, सहर्ष नाचना। यह वास्तवमें बड़े भाग्यकी बात है कि भगवान् हमें अपने हाथका खिलौना बना लें। जहाँ निर्भरता होती है, वहाँ भगवान्‌की

है; वे तो अपनी लीलासे ही प्रकट होते हैं। वास्तवमें वह उ
ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि वह परम मङ्गलविग्रह पहले :
था; अब माताके उदरमें रक्त-वीर्यके संयोगसे बन गया। वह तो नि
है और समय-समयपर अपनी लीलासे ही प्रकट होता है। यह प्राक
ही उनका जन्म है और फिर लीलाके अनन्तर अन्तर्धान हो जाना
उनका देहावसान कहा जाता है। वस्तुतः वे जन्म-मृत्युसे रहित हैं
कालकर्मसे अतीत हैं। वे स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'मैं सर्वथा अविनाशीस्वरूप और अजन्मा होते हुए भी तथा सब
ब्रह्माण्डोंका परम ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिद्वारा अपनी योग-
मायासे—अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ।'

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।६)

'अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है और जो पुरुष इस
जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेता है, वह देह-त्यागके अनन्तर दूसरे
जन्मको न प्राप्त होकर मुझको ही प्राप्त होता है।'

८१—जिनके जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेनेसे ही अपुनर्भव मोक्ष
मिल जाता है, उन भगवान्‌को प्रारब्धकर्मवश वनमें बाध्य होकर कष्ट
सहन करना पड़ा—यह कहना अपना अज्ञान ही प्रकट करना है।

८२—भगवान् श्रीरामचन्द्रका युवराजपदपर प्रतिष्ठित न होकर
वनमें जाना उनकी दिव्य लीला ही थी, किसी प्रारब्धका भोग नहीं।

रहे नल और युधिष्ठिर; सो यदि वे महानुभाव तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, तब तो वनमें रहनेपर भी उन्हें वास्तवमें कोई अशान्ति नहीं हुई और यदि तत्त्व-ज्ञानतक नहीं पहुँचे थे तो यथायोग्य अशान्ति होनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इन दोनोंमें भी नलसे युधिष्ठिरका स्तर ऊँचा प्रतीत होता है। कुछ भी हो—इस श्लोकको प्रमाण मानकर शाश्वत शान्तिमें विघ्न मानना सर्वथा अप्रासङ्गिक है।

८३—इतनी बात अवश्य सत्य है कि प्रारब्धकर्मका ( सहज ही ) प्रतीकार नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानीके संचितका नाश हो जाता है, क्रियमाण भी अहंभावका अभाव तथा सहज निष्कामभाव होनेके कारण भुँजे हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न नहीं कर सकता। परंतु प्रारब्धका बिना भोगे नाश नहीं हो सकता। किसी प्रबल नवीन कर्मके तत्काल संचितोंमेंसे प्रारब्ध बन जानेके कारण फलदानोन्मुख प्रारब्ध रुक जाता है, परंतु मिट नहीं पाता।

८४—यह सत्य होनेपर भी तत्त्वज्ञानीकी शाश्वत शान्तिसे इसका क्या सरोकार है। कर्मोंका अस्तित्व ही अज्ञानमें है। अज्ञानका सर्वथा नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानकी या शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। और शाश्वत शान्तिमें अज्ञान नहीं रहता, अतएव शाश्वत शान्तिको प्राप्त आनन्दमय पुरुषमें एक समब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें शरीरमें होनेवाले भोगोंसे उसकी स्वरूपभूता नित्यैकशान्तिमें कोई बाधा नहीं आती। वह सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र सम होता है। सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु, हानि-लाभ, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण—किसी भी द्वन्द्वमें वह विषम नहीं देखता। वह एकमात्र ब्रह्मको ही जानता है, ब्रह्ममें ही रहता है और ब्रह्म ही बन जाता है। ऐसी अवस्थामें न तो जगत्‌की

दृष्टिसे होनेवाला भारी-से-भारी दुःख उसे विचलित कर सकता है और न जगत्‌की दृष्टिसे प्रतीत होनेवाला परम सुख ही उसे सुखके विकारसे क्षुब्ध कर सकता है। वह नित्य-निराकार, निर्विकल्प, निर्विशेष, सदा सम, अचल, कूटस्थ स्वरूप स्थित रहता है। इसी बातको समझानेके लिये भगवान्‌ने जहाँ-जहाँपर गीतामें तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ-वहाँ समतापर बड़ा जोर दिया है। इसीको प्रधान लक्षण बतलाया है। देखिये गीता अध्याय २। ५६-५७; ५। १८-१९; ६। २९-३१; १२। १३; १७—१९; १४। २२, २४-२५ आदि-आदि।

८५—शाश्वत शान्तिको प्राप्त पुरुषकी शान्ति वह होती है, जो एकरस और सम है, जो किसी भी कारणसे किसी कालमें घटती नहीं, नष्ट नहीं होती। वह नित्य है, सनातन है, अचल है, आनन्दमय है, सत् है, सहज है, अकल है और अनिर्वचनीय है। बस, वह परमात्माका स्वरूप ही है। जो शान्ति किसी शारीरिक या मानसिक स्थितिके कारण विचलित होती है, बदलती है या नष्ट होती है, वह यथार्थमें शान्ति ही नहीं है। वह विषयप्राप्तिजनित क्षणिक सुखरूपसे प्राप्त होनेवाली चित्तकी अचञ्चलता है, जो दूसरे ही क्षण नवीन कामनाके जाग्रत् होते ही नष्ट हो जाती है।

८६—भक्तकी दृष्टिसे कहा जाय तो भी यही बात है। भक्त सुख और दुःख दोनोंमें अपने भगवान्‌की मूर्ति देखता है। वह अपने भगवान्‌को कभी बिना पहचाने नहीं रहता। वह वज्रसे भी कठोर और कुसुमसे भी कोमल दोनोंमें ही अपने प्रियतमको निरख-निरखकर उसकी विचित्र लीलाओंको देख-देखकर नित्य निरतिशय आनन्दमें निमग्न रहता है।

८७—उसकी इस आनन्दकी शान्तिको नष्ट करनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

'उस परम लाभकी प्राप्ति हो जानेपर उससे अधिक अन्य कोई लाभ नहीं जँचता और उस अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

८८—क्योंकि वह सर्वत्र, सर्वदा अपने हरिको ही देखता है। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

'जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।'

८९—ऐसी अवस्थामें यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी—शाश्वत शान्तिको प्राप्त पुरुषके लिये कर्म रहता ही नहीं। प्रारब्धसे शरीर रहता है; परंतु उसमें अहंता और कर्ता-भोक्ता-भाववाले किसी धर्मीका अभाव होनेसे क्रियामात्र होती है। वस्तुतः उसको कोई भोगता नहीं। उसके कर्मोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं। कर्मोंका समस्त भार उसके सिरसे उतर जाता है। प्रारब्धके शेष हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है।

९०—अब एक प्रश्न यह है कि (गीता अध्याय २। ६० में) यह कहा गया है कि प्रमथनकारिणी इन्द्रियाँ विपश्चित् पुरुषके मनको भी

बलात्कारसे हर लेती हैं, यह विपश्चित् पुरुष शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है या अन्य किसी प्रकारकी शान्तिको ? इसका उत्तर एक तरहसे ऊपर आ चुका है। थोड़े शब्दोंमें पुनः समझ लीजिये कि वस्तुतः शाश्वत शान्तिको प्राप्त पुरुष ब्रह्ममें—भगवान्‌के स्वरूपमें नित्य एकत्व-रूपसे अचल रहता है। वह चलायमान होता ही नहीं। यहाँ 'विपश्चित्' शब्दसे बुद्धिमान् पुरुष समझना चाहिये। जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् तो है परंतु भगवत्प्राप्त नहीं है, उसकी बुद्धि यदि मनके अधीन हुई रहे तो उसके मनको इन्द्रियाँ बलात् खींच लेती हैं।

## भजनकी गोपनीयता

९१—दोष रहते भजन न किया जाय, ऐसी बात नहीं। परंतु जबतक दोषका सर्वथा नाश न हो जाय, तबतक भजन अत्यन्त गुप्त रहे। भजन इतना गुप्त रहे जितना सम्भ्रान्त कुलकी स्त्रीका किसी जारसे प्रेम। दुर्गुण और दुर्भाव वास्तविक भजन होनेपर रह ही नहीं सकते। भक्ति और भजनका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसमें बुरे आचरणोंका समर्थन है। भक्ति बुरी बातोंका कदापि किसी प्रकार भी समर्थन नहीं करती। दुराचारी कभी भक्त नहीं कहला सकता और जो भक्त है, वह कदापि दुराचारी हो ही नहीं सकता।

९२—आजकल बहुत कम ऐसे भक्त मिलते हैं जिनमें कोई दोष हो ही नहीं। हमारी दृष्टि भी संस्कारवश दूषित और मलिन हो गयी है। इस कारण भक्तिका स्वरूप कुछ नीचा हो गया है। लोग यह समझने लगे कि भक्तोंमें भी दुराचार रहता है, इसलिये भक्ति और दुराचार साथ चल सकते हैं। यही इस युगकी सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

९३—भक्तिकी कसौटी तो भगवान्‌ने गीता ( अध्याय १२ के

१३-२० श्लोकों ) में स्पष्ट बतला दी है। भगवान्‌ने डंकेकी चोट यह कहा कि 'मेरा भक्त वह है, जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो सब भूतोंके साथ मित्रतासे बर्तता है, जो कृपालु है, जो ममता और अहंकारसे रहित है, जो दुःख और सुखमें समान और क्षमाशील है, जो ध्यानपरायण, लाभ-हानिमें सदा संतुष्ट, संयमी तथा दृढ़निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्यारा है। जिससे न तो लोगोंको क्लेश होता है और न जो लोगोंसे क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष-अमर्ष, भय और उद्वेगसे रहित है वही मुझे प्रिय है। मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है, जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है अर्थात् जीवनके असली कामको आलस्य छोड़कर करता है, जो पक्षपातरहित है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने सभी ( काम्यफलके ) आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं। जो न हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने ( कर्मके ) शुभ और अशुभ फल छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सरदी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं और जिसमें आसक्ति नहीं है, जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक-सी हैं, जो मननशील है, जो भी कुछ मिल जाये उसीमें संतुष्ट है, एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका ठिकाना मेरे सिवा कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।'

९४-बहुत स्पष्ट शब्दोंमें बहुत खोलकर और बहुत विस्तारसे भगवान्‌ने भक्तके गुण कहे हैं। जबतक अपनेमें ये लक्षण नहीं मिलने लगते, तबतक अपनेको 'भक्त' कहना या भक्त मानना खतरेसे खाली

नहीं। जबतक कुछ भी विकार है, तबतक यही मानना चाहिये प्रभुमें पूर्ण विश्वास नहीं हुआ। विश्वास होते ही विकार नष्ट हो ज चाहिये। जहाँ जीवन भक्तिमय हो गया, वहाँ विकार कहाँ ? भक्ति प्रधान साधन है मन। सर्वोत्तम भक्ति वह है, जिसमें सारा हृद सम्पूर्ण तन-मन-प्राण भगवान्‌को समर्पित हो जाय। 'भज मामनन्यभाक्।'

९५—इस प्रकार हृदयको भगवन्मय बना दे, उसे भगवान् इतना भर दे कि फिर दूसरेके लिये स्थान रहे ही नहीं। स्थान र भी तो ऐसे ही भावोंका, जो भक्तके साथ रहने योग्य हैं; जैसे— वैराग्य, दया, प्रेम आदि। विकार और भक्ति दोनों एक साथ रहें ही कैसे ? जिस मन्दिरमें भगवान्‌की भक्तिकी प्रतिष्ठा हो चुकी, उस कूड़े-कर्कट कैसे रहेंगे ? उसमें तो धूप-दीप, अगर, कूपर, चन्दन और सुगन्धित पुष्प ही रहेंगे।

९६—भक्तिसे हृदयको भरते जाना चाहिये—हृदय तो भक्तिका मन्दिर है ही। अपनी भक्तिको बहुत ही गुप्त रखना चाहिये। कोई जान न ले कि हम अपने प्रभुजीकी भक्ति करते हैं। पत्नी थोड़े ढिंढोरा पीटती फिरती है कि वह अपने पतिके चरणोंमें अपनेको चढ़ा चुकी है। उसकी माँगमें सिन्दूर देखकर, उसके चेहरेपर उल्लास देखकर, उसका उमड़ता हुआ प्रेम देखकर लोग आप ही उसे 'सुहागिन' समझते हैं। लोग समझें या न समझें वह तो सुहागिन है ही— उसका मन-प्राण-जीवन अपने स्वामीके चरणोंसे जुड़ चुका है ही।

९७—भक्ति कहीं प्रकट न हो जाय और लोग उसके कारण मान-बड़ाई न देने लगें—इस बातसे भक्तको बराबर सावधान—सतर्क

रहना चाहिये। कच्चा भक्त जहाँ मान-सम्मानके स्वागतमें लगा कि भक्ति छूटी। वह द्वेषमें भी न फँसे, नहीं तो भक्तिका अङ्कुर ही नष्ट हो जायगा। लोगोंको जनानेमें क्या धरा है! लोग जानें या न जानें, भक्ति तो अपना रस बरसायेगी ही—

**अब तो बेलि फैल गयी आनँद-फल होई।**

९८—भक्ति हमारे भीतर हो नहीं और लोगोंमें ख्याति हो जाय कि मैं भक्त हूँ—साधकके लिये यह बड़ी आफत है। यदि मेरे हृदयमें भक्ति है और लोग नहीं जानते कि मैं भक्त हूँ तो बड़ा ही सुन्दर! भजनको बड़े जतनसे छिपाकर रखना चाहिये।

९९—भगवान्से बराबर यह प्रार्थना करनी चाहिये कि वे भजनमें उत्साह देते रहें। भगवान्के भरोसे मनुष्य रहे तो उसे बराबर [उत्]साह मिले। भक्तिमें जैसे-जैसे वृद्धि होगी, वैसे-वैसे उत्साह बढ़ेगा।

१००—जो लोग भजन करते हैं, वे दो बातोंमें सावधान रहें—

१. कहीं ख्याति तो नहीं बढ़ रही है?

२. दोष घट रहे हैं या नहीं।

१०१—मान-बड़ाई आदिके लिये भजनका जो प्रदर्शन है, वह [घ]ोरा दम्भ है। विषयोपभोगका सामान इकट्ठा करनेवाले शिष्य गुरुको [गि]रा देते हैं। विषयोंके अङ्कुर तो मनमें हैं ही। मान-बड़ाईका भोजन [पा]कर विषय जग पड़ते हैं और साधक अपनी स्थितिसे उतर पड़ता [है] एवं अब उसका एकमात्र लक्ष्य मान-बड़ाई ही हो जाता है। फिर [म]ान-बड़ाईके कारण बड़े-बड़े साधकोंको पतित होते देखा-सुना गया [है]। मान-बड़ाईको स्वीकार करते ही अन्य अगणित विषयोंके लिये [द्व]ार खुल जाता है। भक्तिके नामपर विषयोंका स्वागत करना पामरताका

आवाहन है। इसलिये कि साधक मान-बड़ाईके मीठे विषसे बच स
यह आवश्यक है कि वह अपने साधनको छिपाकर रक्खे। किसी
भी प्रकट न होने दे, कोई जाने ही नहीं कि यह भजन करता है
ख्याति बढ़नेपर तो दोषोंका द्वार खुल पड़ता है—भक्तिका द्वार ब
हो जाता है। भक्तिसे ही दोषोंका नाश होगा, चित्त निर्मल
जायगा, भक्तिप्रिय प्रभुका आवास ऐसे ही हृदयमें होता है।

१०२—ज्ञानी हो या भक्त—काम, क्रोध, लोभका परित्याग
अनिवार्य है ही। अन्तःकरणकी शुद्धिके अनन्तर ही सच्ची भक्ति औ
ज्ञानका उदय होता है। अपने प्रेम और भक्तिको अपूर्ण मानना
उस दिशामें आगे बढ़ना है। प्रेमी कब कहेगा कि उसे पूर्ण प्रे
प्राप्त हो गया, अब अधिककी आकाङ्क्षा नहीं। वह तो बराबर यह
अनुभव करता रहेगा कि प्रेमका एक कण भी मुझमें नहीं है; मेर
औढरदानी प्रेमास्पद ही मुझपर दया और स्नेह करके प्रेम करता है
और मेरी पात्रता-अपात्रताको ध्यानमें कभी लाता ही नहीं।
अपनेको अपूर्ण मानते हुए साधन-पथपर चलता ही रहे—प्राण भले
ही छूट जायँ, साधन न छूटे।

१०३—एक भी दोष रहे तो वह शूलकी तरह चुभता रहे।
सूरदास और तुलसीदास-जैसे लोकवन्द्य विश्ववरेण्य महात्मा अपनेको
'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कहते हैं तो हम पामरोंका क्या
कहना ? मनमें पापका जरा-सा भी लेश है, तबतक अपनेको भक्त
न माने। भक्ति और पाप ?

१०४—प्रीति भीतर-ही-भीतर घुलती रहे; मन-प्राण-हृदय उसे
पीते रहें—बराबर पीते रहें—भरसक प्रकट न होने दें। वह प्रकट हो

भी सकेगा क्योंकर ? वह तो कहने-सुननेकी बात ही नहीं है। हाँ, यदि आप-ही-आप समुद्र उमड़ पड़े और अपने-आप ही अपने काबूमें न रहे तो प्रातःस्मरणीय भक्तशिरोमणि सूरके स्वरमें स्वर मिलाकर गा लें—

अब तो प्रगट भई जग जानी।
वा मोहन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहैगी छानी॥

## भक्तका संसार

१०५—निवृत्तिमार्गमें संसार कुछ है ही नहीं। प्रवृत्तिमार्गमें जगत् है—सब कुछ सत्य है; पर जगत्‌रूपमें नहीं, भगवत्‌रूपमें। शरीर भी भगवान्‌की ही चीज है। इसकी रक्षामें किसी प्रकारकी अवहेलना न हो। पर इसमें आसक्ति न हो। इससे ममता न हो। मालिककी चीज है यह भाव कभी न भूले। इस शरीरपर मेरा क्या अधिकार, मेरी क्या आसक्ति ? हो ही क्यों ? पर साथ ही इसकी उपेक्षा करके इसे नष्ट न होने दिया जाय! यह तो मालिककी थाती है। अपनी वस्तु नष्ट हो जाय—हो जाय, भले हो जाय; पर अपने प्यारेकी वस्तु नष्ट हो जाय, ऐसा करनेका अधिकार नहीं। स्त्री-पुत्र-धन—यह सब प्रभुकी थाती हैं। इन सबकी सँभाल प्रभुकी वस्तु समझकर खूब चौकसी और प्रेमके साथ करनी चाहिये।

१०६—सभी कार्योंसे प्रभुकी पूजा हो सकती है—यदि हम उसमें छिपे हुए भगवान्‌का रूप देख सकें। घरके सभी लोग भगवान्‌की प्रतिमा हैं, घर भगवान्‌का मन्दिर है, कार्य उपासना है, जिन वस्तुओंसे उनकी सेवा की जाती है, वे सभी पूजाकी सामग्री हैं। इस भावको दृढ़ करनेके लिये आवश्यकता है भजनकी। भजनके बिना अन्तःकरण शुद्ध होता नहीं; अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना पात्रता नहीं आती और पात्रता आये बिना, आधार पाये बिना कोई वस्तु